गीतामें भक्ति-ज्ञान समन्वय

अखण्डानन्द सरस्वती

गीतामें
भक्ति-ज्ञान समन्वय

अखण्डानन्द (सरस्वती)

पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2540481/487

●

प्रथम संस्करण : 1100
संन्यास जयन्ती, संवत् 2056
15 फरवरी 2000

द्वितीय संस्करण : 1100
आराधन दिवस
19 नवम्बर 2008

●

मूल्य : 30/- रुपये मात्र

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनाम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

प्रकाशकीय

दिल्ली स्थित श्रीलक्ष्मीनारायण (बिरला) मन्दिरमें सन् १९६८-६९ में परमपूज्य महाराजश्री स्वामी श्री अखण्डानन्दजी सरस्वतीके प्रवचनोंका कार्यक्रम श्रीलक्ष्मीनिवास बिरला द्वारा आयोजित किया गया था। उन्हीं प्रवचनोंमें से यह एक संकलन है- 'गीतामें भक्ति-ज्ञान समन्वय'। अत्यन्त लगन एवं परिश्रमसे इसे संकलित किया था-श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने और इसका सुष्ठु सम्पादन किया था-पं. श्री देवधर शर्माने।

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा १९८० में 'गीतामें मानव धर्म एवं भक्ति-ज्ञान समन्वय' नामक पुस्तकके अन्तर्गत यह प्रकाशित किया गया था, इसकी लोकप्रियता से वह संस्करण अतिशीघ्र समाप्त हो गया था, अतः कई वर्षों से इसकी माँग बनी हुई थी। अब परमपूज्य महन्तश्री स्वामी ओंकारानन्दजी की आज्ञा एवं स्वामी श्री गोविन्दानन्दजी सरस्वतीके निर्देशानुसार इसे स्वतन्त्र रूपसे प्रकाशित किया जा रहा है।

पुस्तक अपने आप सब-कुछ कहती है, अतिरिक्त कुछ कहना सूर्यको दीपक दिखाना मात्र है। वस्तुतः समन्वय विपरीत भावोंका नहीं होता। भक्ति एवं ज्ञान दो होते हुए भी कैसे एक हैं उनकी द्वैतता समाप्त होकर अद्वैतताकी प्रतिष्ठा किस प्रकार होती है इस पुस्तकमें दूधसे निकाले गये मक्खनकी भाँति पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत है। प्रथम संस्करणकी समाप्तिने इसकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध कर दी है।

-ट्रस्टी
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
वृन्दावन। मुम्बई

आराधन दिवस
19 नवम्बर 2008

विषय-सूची

☆

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

गीतामें भक्ति-ज्ञान समन्वय

: १ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

आइये, अब गीताके सम्बन्धमें कुछ विचार करें। वर्तमान स्थितिमें मनुष्यका जीवन वासनानुसारी हो गया है। जिसके मनमें जैसी वासना है, उसके अनुसार वह काम करना चाहता है। अनुशासनानुसारी जीवन नहीं है और जबतक जीवनमें अनुशासन नहीं होता, तबतक किसी दिशामें प्रगति नहीं हो सकती। जब मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार चलने लगता है, तब न धर्मको मानता है, न कानूनको मानता है और न किसीके सुख और शान्तिका विचार करता है। वह स्वार्थ और भोगमें इतना लिप्त हो जाता है कि दूसरेकी तरफ कोई ध्यान ही नहीं देता। उसके सामने न व्यक्तिगत जीवन रहता है, न जाति रहती है, न मजहब रहता है, न मानवता रहती है और न प्रान्त, राष्ट्र या विश्व रहता है। स्वार्थ-वासना और भोगवासना मनुष्यको उच्छृङ्खल बना देती है। इसलिए हमारे चित्तकी शुद्धि आवश्यक है। आत्मशुद्धि अनिवार्य है। हमारा जीवन मर्यादित होना चाहिए। कोई भी पुलिस, फौज, कानून या सरकार मनुष्यको शुद्ध नहीं रख सकती, यदि स्वयं उसके मनमें शुद्धचित्त रहनेकी प्रेरणा न आवे।

यह प्रेरणा हमारे धर्मग्रन्थ देते हैं और मनुष्यके हृदयमें ऐसा संस्कार बैठाते हैं कि वह सुव्यवस्थित हो जाय। यदि हमारे मनमें धर्मका संस्कार रहे तो उसके विरुद्ध जो काम है, उनकी ओरसे स्वयं विमुखता आजाय। इसलिए जीवनमें धर्म आना चाहिए। उसके लिए थोड़ी वीरताकी भी आवश्यकता है। यदि मनुष्यमें वीर्य न हो तो वह अपने धर्मपर दृढ़ नहीं रह सकता। जो कष्ट सहन करके अपने नियमका, धर्मका पालन करनेके लिए तत्पर नहीं है उसके जीवनमें आत्मबल कहाँसे आयेगा? इसलिए ऐसे रास्तेसे चलो, ऐसे नियम रखो, जिसमें थोड़ा कष्ट

उठाना पड़े। वीरता आती है उत्साहसे। साहित्यमें वीररसका स्थायीभाव उत्साह होता है। उत्साह दिलानेके लिए कोई बोलनेवाला भी चाहिए। इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुनको उद्‌बोधित करते हुए कहते हैं कि नपुंसक मत बनो, वीर बनो। जिसके मनमें उत्साह होता है, वीरता होती है, वही जीवनमें सफलता प्राप्त करता है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

अब आत्मशुद्धि अथवा चित्तशुद्धिके लिए आवश्यकता किस बातकी है, यह देखो। वासनाकी निवृत्तिके लिए उपासना होती है और अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञान होता है। दोनोंका अपना-अपना विषय-विभाग है। जैसे एक रोगके लिए एक ओषधि होती है, दूसरे रोगके लिए दूसरी ओषधि होती है और किसी-किसी रोगके लिए दोनों ओषधियोंका योग होता है। फिर डाक्टर-वैद्य यह देखते हैं कि किस रोगीको कौन-सी ओषधि देनी है या दोनों मिलाकर देनी है; वैसे ही अधिकारके अनुसार आत्मशुद्धि अथवा चित्तशुद्धिके उपायोंका निश्चय करना पड़ता है।

पहले हम आपको भक्तिकी बात सुनाते हैं। वासना उच्छृङ्खल होती है। यदि उसपर कोई रोक-टोक नहीं है तो वह बेधड़क कहीं भी दौड़ जाती है—कभी किसीके धनकी ओर, कभी किसी स्त्री-पुरुषकी ओर, कभी किसीसे मारपीट करनेकी ओर और कभी किसीको पकड़ रखनेकी ओर। इस प्रकार वासना अनेक रूप धारण करती रहती है। 'वासना एव संसारः'—वासनाका ही नाम संसार है। किन्तु जब धर्म जीवनमें आता है तब वह वासनाओंको पचास प्रतिशत नियन्त्रित कर देता है। इसी प्रकार जब भक्ति आती है तब वह वासनाओंको निन्यानबे प्रतिशत नियन्त्रित करती है। इसीलिए हमारे मनमें ईश्वरकी वासना और ईश्वरकी उपासना रहनी चाहिए।

यदि जीवनको शुद्ध करना है तो उसकी पहली सीढ़ी है सदाचार और दूसरी सीढ़ी है भक्ति। भक्ति माताकी भी होती है—'मातृदेवो भव' पिताकी भी होती है—'पितृदेवो भव' और आचार्यकी भी होती है—'आचार्यदेवो भव' (तै० उप०१.११.२) देशकी भी भक्ति होती है। परन्तु भक्ति उस एककी होनी चाहिए जो मातामें भी है, पितामें भी है, गुरुमें भी है और देशमें भी है। हमें किसकी भक्ति करनी है यह जाननेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता होती है। केवल माला पहनानेका नाम भक्ति नहीं होता। आजकल जो बड़ी-बड़ी कूटनीतिक या राजनीतिक सभाएँ

होती हैं और उनमें लोग अपनी ओरसे मालाएँ मँगाकर दूसरोंके हाथमें थमाते हुए कहते हैं कि तुम सभामें पहना देना, उसके पीछे कोई भक्ति-भावना थोड़े ही होती है। यहाँतक कि भगवान्‌के नामका जप भी करो किन्तु मनमें दूसरोंका बुरा सोचो, तो वह भक्ति नहीं होती। भक्तिके लिए भजनीयके सम्बन्धमें निश्चय होना चाहिए कि हमें किसकी भक्ति करनी है। '**माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ: सर्वतोऽधिक:। स्नेहो भक्ति-रितिख्याता तया मुक्तिर्न चान्यथा**'। (ब्रह्मतर्क श्लोक, महाभा० ता० नि०१.८६में उद्धृत)। जिसकी भक्ति करनी है, उसकी महिमाको पहले जानो और उससे सर्वापेक्षा अधिक स्नेह करो। स्नेह माने हृदयकी द्रुति, हृदयका पिघलना। हमारे हृदयमें कोई कठोरता न रहे। जब हम हाथमें कोई चीज पकड़ते हैं और सोचते हैं कि यह गिर न जाय, इसे कोई छीन न ले, तो हमें अपनी मुट्ठी कड़ी रखनी पड़ती है। इसी तरह जब हम अपने दिलमें चाहते हैं कि वह वस्तु हमसे छूट न जाय, गिर न जाय, कोई छीन न ले तो दिलको कड़ा करके उसको पकड़ना पड़ता है। जब भगवान्‌से प्रेम करना होता है तो चित्तमें जो कठोरता है, उसको मिटाना पड़ता है। उसके लिए चाहिए स्नेह और जिसकी भक्ति करना चाहते हैं, उसकी महिमाका ज्ञान।

अब ज्ञान और भक्तिका अन्तर देखो। ज्ञान तो अपने दुश्मनका भी होता है। आप अपने दुश्मनको जानते हैं कि नहीं जानते? जानते हैं, पर दुश्मनकी भक्ति नहीं करते। यही बात सुरेश्वराचार्यजीने कही कि शत्रुका ज्ञान तो होता है परन्तु शत्रुके प्रति भक्ति नहीं होती। किन्तु जब भलेमानुषका ज्ञान होता है तो हम न चाहें तब भी उसके प्रति पहले कृपाका उदय होता है और फिर श्रद्धा तथा बादमें भक्ति हो जाती है। गीतामें यह बताया है कि भक्ति कैसे होती है?

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त: सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता:॥

ईश्वरके बारेमें थोड़ी ज़ानकारी होनी चाहिए। उनके गुणका ज्ञान होना चाहिए। वे सारी सृष्टिके माता-पिता-स्वामी और अन्तर्यामी हैं तथा सबका संचालन वही करते हैं। सबके दिलकी जानते हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और परमकृपालु हैं। जो उनकी भक्ति करता है, उसके हृदयमें आकर बैठ जाते हैं। यदि वह बुरा काम करनेके लिए चले तो इशारा भी करते हैं कि यह काम तुम्हारे करनेका नहीं है। यदि मेरा भक्त कहलाकर तुम बुरा काम करोगे तो केवल तुम्हारी नहीं, मेरी भी बदनामी होगी।

तो, हृदयमें भगवान्‌को बैठाना अपने सत्कर्मके साथ, सद्भावके साथ जोड़ना—यह भक्तिकी पहली शर्त है। आज सर्वत्र कलियुगका विस्तार है। जहाँ देखो वहीं कलह है—माँ-बेटेमें कलह है, पति-पत्नीमें कलह है, भाई-भाईमें कलह है और मित्रका मित्रके प्रति विश्वास नहीं। आज जो लोग बड़े-से-बड़े स्थानपर बैठे हैं, वे कल कुछ कहते हैं और आज कुछ कहते हैं। ऐसी अनियन्त्रित अनुशासन रहित और धर्महीन प्रवृत्ति क्यों आयी? इसलिए आयी कि हृदयमें ईश्वरका भय नहीं रहा, ईश्वरके प्रति प्रीति नहीं रही, धर्ममें निष्ठा नहीं रही और हृदयमें बैठकर जो हमको रास्तेपर चलानेवाली चीज थी, वह छूट गयी।

भक्ति प्रारम्भ होती है तब, जब हम ईश्वरकी महिमाको थोड़ा-थोड़ा समझने लगते हैं। 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'—सबके हृदयोंमें अन्तर्यामी रूपसे बैठे हुए भगवान् सबका संचालन कर रहे हैं। जीव और जीवके निवासस्थान अन्तः-करण दोनोंके प्रवर्तक भगवान् ही हैं। 'इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः'—विद्वान् पुरुष यह ज्ञान पहले प्राप्त करते हैं और ज्ञान प्राप्त करके भावसहित भगवान्‌का भजन करते हैं। यहाँ भगवान्‌का ज्ञान पहले हुआ और भक्ति बादमें हुई।

अब यही बात लोक-व्यवहारमें देखो। आप किसीके साथ प्रेमसे रहो और उसकी सेवा करो। उससे जितना-जितना आपका प्रेम बढ़ेगा, उसकी जितनी-जितनी सेवा बढ़ेगी, उसका जितना-जितना सान्निध्य प्राप्त होगा, उतना-ही-उतना उसके बारेमें आपका यह ज्ञान बढ़ता जायगा कि इसको कैसे सोना है, इसको क्या खाना है और इसको क्या रुचता है आदि आदि। यह सब दूर रहनेसे पता नहीं चलता, भीतर घुमनेसे पता चलता है। इसलिए यहाँ भक्तिसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

जब तुम भगवान्‌की भक्ति करोगे तो भगवान्‌से तुम्हारी जान पहचानबढ़ेगी। जितनी-जितनी भगवान्‌के प्रति प्रीति बढ़ेगी, उतनी ही उतनी भगवान्‌की जान-पहचान बढ़ेगी। अतः भक्ति भगवान्‌की भक्तिमें साधन है। वस्तुतः भक्ति और ज्ञान दोनों तत्त्वतः एक दूसरेके मददगार हैं, एक दूसरेके बाधक नहीं हैं। यह जान लेनेके बाद दोनोंका समन्वय अपने आप हो जाता है।

अब देखो, समन्वयकी रीति क्या होती है? यही होती है कि यदि भक्ति और ज्ञानका समन्वय करना हो तो पहले दोनोंका यह सामान्य ज्ञान होना चाहिए कि

भक्ति क्या हैं और ज्ञान क्या है, ज्ञानसे भक्ति अलग क्यों है और भक्तिसे ज्ञान अलग क्यों है? दोनोंका अपना-अपना विशेष क्या है? फिर किन-किन विषयोंमें दोनों अलग रहते हैं। पहले दोनोंका सामान्य ज्ञान, फिर दोनोंका विशेष ज्ञान और दोनों कहाँ मिलते हैं, दोनोंमें मतभेद क्या है और मतभेद मिटानेका उपाय क्या है, किस युक्तिसे यह मतभेद मिट जाता है? इतनी जानकारी होनेके बाद फैसला हो जायेगा। पहले बयानतलफी हुई, उसके बाद फैसला हो गया। इसको संस्कृत भाषामें बोलते हैं 'विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धान्त'। इन पाँच बातोंके विचारसे एक अधिकरणकी निष्पत्ति होती है। एक वस्तुको सिद्ध करनेके लिए हमको किस विषयपर विचार करना है, उसके स्वरूप-संशय क्या हैं, उसमें पूर्वपक्षीका क्या कहना है तथा उत्तरपक्षीका क्या कहना है, मतलब यह कि मुद्दई क्या बोलता है, मद्दालय क्या बोलता है? उसमें किस संशयका, किस समस्याका क्या समाधान किया गया है और सारे समाधानपर विचार करके सिद्धान्त बनता है! यह है समन्वयकी पद्धति।

समन्वय दो तरहका होता है—एक क्रम-समन्वय, दूसरा सम-समन्वय। एक पहले, दूसरा पीछे, सीढ़ी-दर-सीढ़ी—यह क्रम हो गया। ऐसे भी समन्वय होता है कि पहले भक्ति और फिर ज्ञान। गोस्वामी तुलसीदासजीने दोनोंका बहुत अच्छा समन्वय किया है—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निरगुन उपदेसा॥
जाने बिनु न होय परतीती। बिनु परतीति होय नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहि भगति दृढाई। जिमि खगेस जलकी चिकनाई॥

एक बात यह है कि ज्ञानसे भक्ति होती है, दूसरी बात यह है कि दोनों साथ-ही-साथ रहते हैं।

दुनियामें जितना भी दुःख है, स्वार्थकी प्रवृत्ति है, भोगमें आसक्ति है, यह सब क्यों है? ऐश्वर्यके लिए, हुकूमतके लिए, कुर्सीपर बैठनेके लिए जो अनुचित आचरण है उसका कारण क्या है? यही कारण है कि लोग भगवान्‌से, वेदशास्त्रसे विमुख हो गये हैं और उनके हृदयोंमें धर्मकी प्रतिष्ठा नहीं है। संसारके सारे दोष-दुःख ईश्वर और धर्मसे विमुखताके कारण ही होते हैं।

इसलिए आओ गीताके मैदानमें। आपके ध्यानमें यह बात होगी कि उपनिषदोंको आरण्यक बोलते हैं, इसलिए कि वे अरण्यभूमिमें उपजते हैं। गंगाका किनारा हो, पहाड़ हो, जंगल हो, बड़े-बड़े अनुभवी पुराने महात्मा हों और उनके

सामने श्रद्धावनत जिज्ञासु बैठकर पूछ रहा हो तथा केवल पूछ ही नहीं रहा हो समझ भी रहा हो, उस अरण्यभूमिमें उपनिषदोंका जन्म होता है। स्वयं वेदमें ऐसा कहा गया है—

अपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत्॥

(ऋग्वेद ८.६.२८)

परन्तु गीता अरण्य-भूमिमें नहीं, रणभूमिमें निकलती है, विलक्षण है। कहाँ जंगल, कहाँ गंगाका किनारा, कहाँ पर्णकुटीर, कहाँ ऋषि-महात्मा, कहाँ जिज्ञासु और कहाँ रणभूमि? रणभूमि भी कैसी? 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते'—दोनों ओरसे हथियार चलने ही वाले हैं। एक दूसरेके सम्मुख मृत्यु है, संघर्ष है, वैमनस्य है, कटुता है। ऐसी रणभूमिमें गीताका अवतरण होता है।

दूसरी विलक्षणता देखो। हर जगह परम्परा है कि वक्ता गुरु होता है, ऊँचे सिंहासनपर बैठता है, श्रोता नीचे बैठता है और बड़ी श्रद्धाके साथ श्रवण करता है। यहाँ श्रोता अर्जुन तो रथी है और वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण सारथि हैं। इसका अर्थ यह निकलता है कि यदि तुम छोटेके मुँहसे भी गीता सुन लो तो तुम्हारा काम बन जायेगा। देखो, संजय भी तो धृतराष्ट्रसे बहुत छोटे हैं। वह भी राजपुत्र नहीं, सूतपुत्र हैं। धृतराष्ट्रके नौकर हैं। लेकिन संजय उनको गीता सुनाते हैं। कितना अद्भुत है। कहाँ अरण्यभूमि, कहाँ रणभूमि, कहाँ शान्ति और कहाँ शस्त्रसम्पात। कहाँ बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि-महर्षि, कहाँ हिनहिनाते चञ्चल घोड़ोंकी बागडोर सँभाले सारथि। इस प्रकार गीता हमारे व्यवहारकी भूमिमें आयी है।

और भी अन्तर देखो। मीमांसा शास्त्र यज्ञशालामें होनेवाले धर्मका विचार करता है कि वेदी कैसे बनायी जाये, देवताका आवाहन कैसे हो और मन्त्र कैसे पढ़ा जाये। परलोक-प्रधान धर्मका निरूपण करती है मीमांसा, अन्य धर्मशास्त्र भी यही करते हैं, किन्तु गीता हमारा जो दैनिक कर्त्तव्य है, हमें अपने जीवनमें जो करना-धरना है उसका निरूपण करती है।

अब भक्तिकी बात लो। भक्तिका अवतरण कहाँ होता है? जहाँ बड़ा छोटा हो जाता है। भक्ति गंगा है; जो हिमालयके उत्तुङ्ग शिखरसे आकर नीचे मैदानमें गिरती है, इसलिए भक्ति भी विनम्रका ही वरण करती है। भगवान्की कृपा विनयीको ही प्राप्त होती है। यहाँ भी भगवान्की कृपालुताका अवलोकन करो। वे अर्जुनके सारथि बन गये—

सारथि ह्वै अर्जुन रथ हाँक्यौ।

किसी भक्तने पूछा कि भगवान् सच्चे सारथि बने हो कि झूठे? बोले कि नहीं, मैं सच्चा सारथि हूँ। मैंने जो पार्ट लिया है, जो नाटक कर रहा हूँ, उसमें कोई त्रुटि नहीं होने पायेगी। और, सचमुच जब रथी अर्जुनने आज्ञा की कि— **'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत'**—दोनों सेनाके बीचमें हमारा रथ ले चलो, तब सारथि श्रीकृष्णने, जैसे जी हजूर जो आज्ञा बोलते हैं, वैसे ही रथको दोनों सेनाओंके मध्यमें ले जाकर खड़ा कर दिया। अर्जुनने सोचा कि अरे, ये श्रीकृष्ण, जिनको लोग भगवान् कहते हैं हमारी आज्ञाका पालन करते हैं। इनके अन्दर तो अभिमानका लेश भी नहीं। ये अभिमानी होते तो कहते कि चलो हटो, तुम कौन होते हो आज्ञा देनेवाले। लेकिन भगवान् भक्तकी आज्ञाका पालन करते हैं। जब भक्तको इस माहात्म्यकाज्ञान होता है तब उसके हृदयमें भगवान्के प्रति भक्ति आती है और बढ़ती है। और भगवान्की कृपा देखो। जब, अर्जुनका उत्साह भङ्ग होने लगता है तब वे उसके भीतर पुरुषोचित उत्साह भरते हैं। इसलिए कि '**युवाः आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः** (तै. उप. २.८.१)।' जवान आदमीके जीवनमें उत्साह चाहिए। उसे यह आशा होनी चाहिए कि सफलता मिलेगी और आशाके साथ उसको अपने साधनमें दृढ़ होना चाहिए। मनुष्यके जीवनमें उत्साह हो, सफलताकी आशा हो और वह अपने इष्टदेवसे जुड़ जाये, फिर सफलता-ही-सफलता है।

गीताकी भक्ति बड़ी विलक्षण है। उसमें भक्ति शब्दके प्रयोग अनेकार्थवाची हुए हैं। गीतामें इसकी चर्चा कहीं नहीं है कि उसकी वेशभूषा कैसी होनी चाहिए? उसे तुलसीकी माला पहननी चाहिए या रुद्राक्षकी? उसको सफेद कपड़ा पहनना चाहिए या लाल-पीला-काषाय पहनना चाहिए? उसे चन्दन आड़ा लगाना चाहिए या खड़ा लगाना चाहिए? किस ढंगका नाम रखना चाहिए, इसका भी निर्देश गीतामें नहीं है। गीता तो भक्तिको नामरूपात्मिका न मानकर हृदयकी वृत्ति मानती है। उसकी दृष्टिमें भक्ति हृदयकी एक खास बनावटका नाम है। जैसे रोगकी निवृत्तिके लिए रसायन होता है, वैसे ही हमारे हृद्रोगोंका निवारण करनेके लिए भक्ति रसायन है। लोगोंका दिल कानून बनाकर बदला नहीं जा सकता, लेकिन उसमें भगवान्की भक्ति भरकर बदला जा सकता है। भक्तिसे हृदयका निर्माण होता है। और भी देखो—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

यहाँ 'मानवः' शब्दपर ध्यान दो, जिसका अर्थ है मनुष्यमात्र। इसमें न तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रका भेद है और न हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदिका। इसमें

स्वदेशी, विदेशी, भाषा, जाति, राष्ट्र किसीका भेद नहीं है। सिद्धि अथवा भक्ति मनुष्य मात्रके लिए है। जो भी ईश्वरसे पैदा हुआ है और जिसके भी स्वामी ईश्वर हैं, वह अपने माता-पिता और स्वामीकी सेवा करनेका अधिकारी है। यहाँतक कि वेश्यापुत्र भी यदि श्रद्धा-भक्तिसे अपनी माताकी सेवा करेगा तो उसको वही फल मिलेगा, जो एक पवित्रात्माको अपनी माताकी सेवा करनेसे मिलता है। मतलब-वेश्यासे नहीं, पुत्रके हृदयकी श्रद्धा-भक्तिसे है। कोई भी मनुष्य, चाहे वह किसी भी देश, किसी भी जाति अथवा किसी भी लिंगमें पैदा हुआ हो, भक्तिका अधिकारी है।

अब भक्ति की कैसे जाये? कौन-सा काम करें, जो भक्ति हो? मन्दिरमें बैठें, आँख बन्द करें या पीठकी रीढ़ सीधी करें? भक्ति कैसे हो? इसका उत्तर स्वयं श्रीकृष्ण दे रहे हैं कि—**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।**

तुम जो काम कर रहे हो, उस कामके द्वारा यह देखो कि भगवान्की अभ्यर्चा हो रही है या नहीं? झाड़ू लगाते हो तो उससे भी सेवा होती है, भक्ति होती है। इस रास्तेसे हमारे गुरुदेव निकलते हैं, हमारे पतिदेव निकलते हैं अथवा वे जब घर पधारें तो उनको कोई गन्दी चीज नहीं दीखनी चाहिए, हमारा घर मन्दिर है, इसमें भगवान्का निवास है, यह साफ सुथरा रहना चाहिए। यह सेवा है, भक्ति है। इसी तरह उनके लिए उनकी अपेक्षित वस्तु उपस्थित करना भी सेवा-भक्ति है, पहरा देना भी सेवा-भक्ति है, उनको कुछ पढ़कर सुनाना भी सेवा-भक्ति है। मतलब यह कि श्रद्धेयको जैसे सुख पहुँचे, वैसा करना सेवा-भक्ति है। इसलिए आप जो भी काम कर रहे हैं, उसमें यह ध्यान रखिये कि यह ईश्वरकी दृष्टिसे हो रहा है या नहीं। कहीं वह व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए, पारिवारिक सुख-स्वार्थके लिए, जातिगत सुखस्वार्थके लिए तो नहीं हो रहा है? आपका काम उस प्रभुकी सेवाके लिए होना चाहिए जो सबमें एक है। भक्तिमें तो प्रभुका अनुरोध है—

'जा भेसाँ म्हारा साईं रीझे सोई भेस धरूँगी'।

भक्ति ऐसी ही होती है। मजहबमें दूसरोंका विरोध होता है, भक्तिमें भगवान्का अनुरोध होता है। योगमें वृत्तिका निरोध होता है, ज्ञानमें अविरोध होता है। ज्ञानमें किसीका विरोध नहीं है, उसका हाथ सबके सिरपर है। ज्ञानके बिना कर्म भी नहीं, ज्ञानके बिना योग भी नहीं। वह सबमें रहकर भी सबसे निराला रहता है। इसलिए मनुष्यको सतत सावधान रहकर यह देखना चाहिए कि वह जो काम कर रहा है, किसके लिए कर रहा है? सर्वात्मा प्रभुकी सेवाके लिए कर रहा है या नहीं। यदि कर रहा है तो यही भगवद्भक्ति है।

अब जिनकी भक्ति हम कर रहे हैं वे मिलते कहाँ हैं, यह देखो। गीता कहती है—'अत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'। गीतामें ईश्वर वैकुण्ठवासी नहीं है। गीतामें वैकुण्ठका तो नाम ही नहीं है, गोलोकका भी नहीं है, साकेतका भी नहीं है। वहाँ केवल भगवान्‌का नाम है, किन्तु सीधे नहीं 'माम्, अहम्, मया, मह्यम्, मत्, मयि' आदि शब्दोंके माध्यमसे है। इनसे सिद्ध है कि भगवान् हैं, परन्तु वे किसी खास जगहमें रहते हैं, यह नहीं है। वे किसी खास समयमें रहते हैं, यह भी नहीं है और किसी खास रूपमें रहते हैं, यह भी नहीं है, लेकिन गीतामें भगवान् हैं—यह आप देख लो।

'यत: प्रवृत्तिर्भूतानाम्'—जिसकी वजहसे हमारी आँखें देखती हैं, नाक सूँघती है, जीभ बोलती है, हमारे कान सुनते हैं, हाथ काम करते हैं, पाँव चलते हैं, दिलमें प्यार आता है, बुद्धिमें विचार आता है, वह भगवान् हैं। हमारे और सबके जीवनमें जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं, उनका मूल उत्स, मूल उद्‌गम भगवान् ही है। उपनिषदोंमें उसीको बोलते हैं—'**श्रोत्रस्य श्रोत्रम्, चक्षुषः चक्षुः, मनसो मनः।**' (केन उप० १.२) वह हमारी आँखकी आँख है, हमारे मनका मन है, हमारी वाणीकी वाणी है। सबका संचालन वही करता है। उसकी सत्ताके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

'येन सर्वमिदं ततम्'—जैसे कपड़ेमें सूत होता है, वैसे ही इस संसारका ताना और बाना दोनों भगवान् ही हैं। आप भगवान्‌के इस स्वरूपको देखोगे तो आपको ज्ञानका कहीं भी विरोध नहीं मिलेगा। भगवान् सर्वात्मा हैं और भक्ति उस सर्वात्मा भगवान्‌की है। जब आप भगवान्‌को किसी एक कोनेमें बिठा दोगे तो उसकी भक्तिमें कहीं ज्ञानका विरोध आ सकता है। जब आपको छोटी चीजका ज्ञान होगा, पूर्णताका ज्ञान नहीं होगा तब वह भक्तिके विरुद्ध पड़ जायेगा। ज्ञान छोटा होगा तो भक्तिका विरोध करेगा और भगवान्‌को छोटी जगहमें बाँधोगे तो ज्ञानका विरोध हो जायेगा। इसलिए 'यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'—यह तो हुआ ज्ञान और 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'—यह हुई भक्ति। इससे मिलेगा क्या? सिद्धि मिलेगी। किसको मिलेगी? मनुष्यको मिलेगी।

अब देखो, एक ज्ञान ऐसा होता है जो भक्तिका मददगार होता है। जितना-जितना भगवान्‌को जानोगे उतना-उतना भगवान्‌से प्रेम बढ़ता जायेगा। एक भक्ति ऐसी होती है जो ज्ञानकी सहायक होती है। जितनी-जितनी भगवान्‌की भक्ति करोगे, उतना-उतना ही भगवान्‌के बारेमें जानकारी बढ़ती जायेगी। एक ज्ञान ऐसा होता है जिससे भक्ति अभिन्न होती है। एक भक्ति ऐसी होती है जिससे ज्ञान अभिन्न

होता है। इससे क्या तात्पर्य निकला? यही निकला कि भगवान् एक वस्तु है। उसका केवल ज्ञान रखें, भक्ति न करें तो ज्ञान पूर्ण नहीं रहता, छोटा हो जाता है। इसी तरह उसके प्रति केवल भक्ति करें, उसका ज्ञान न रखें तो भक्ति अधूरी रह जाती है। इसलिए भगवान् भक्ति और ज्ञान दोनोंका लक्ष्य है। उसको प्राप्त करने, उसतक पहुँचनेके लिए भक्ति और ज्ञान ये दो मार्ग हैं।

एक बार किसीने श्रीउड़िया बाबाजीसे पूछा कि महाराज, भक्ति बड़ी है कि ज्ञान बड़ा है? बाबा बोले कि भक्ति बड़ी है। पूछनेवाला वेदान्ती था। उसने कहा कि महाराज, आपने भक्तिको तो बड़ी कर दिया, ज्ञान क्या उससे छोटा है? बाबा बोले कि बेटा ज्ञानमें छोटे-बड़ेका भेद नहीं होता। भक्ति सबसे बड़ी है। पूछनेवालेने कहा कि महाराज! भक्ति सबसे बड़ी है, हम मान लेते हैं। किन्तु भक्तिसे भी कुछ बड़ा होता होगा? बाबा बोले कि हाँ होता है और वह होता है भगवान्। जिनकी भक्ति की जाती है, वे भक्तिके आराध्य हैं, पूजनीय हैं, भजनीय हैं। इसलिए सबसे बड़ी भक्ति और भक्तिसे बड़े भगवान्। ज्ञानसे बड़ी भक्ति और भक्तिसे बड़ा ज्ञान। ये दोनों परस्पर मिलकर चलते हैं।

अब एक दूसरी बात देखो। भक्त लोग जिस ज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं, उसका मतलब ईश्वरके ज्ञानसे होता है। जो ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, भर्ता है, हर्ता है, सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है, परम दयालु है, भक्तका पक्षपाती है, उसके ज्ञानको भक्तलोग ज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान भक्तिका मददगार होता है। किन्तु निर्गुणिया लोग अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अह्रस्व, अदीर्घ, अनघ परमात्माके ज्ञानको ज्ञान कहते हैं। उनका परमात्मा निर्गुण है, निर्विशेष है, निर्धर्मक है, इसलिए वह ज्ञान भक्तिमें उपयोगी नहीं होता। भक्त लोग ज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं सगुण परमेश्वरके ज्ञानके अर्थमें और अद्वैत वेदान्ती ज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं आत्मा और ब्रह्मकी एकताके अर्थमें। वे निर्विशेष ज्ञानको ज्ञान कहते हैं। दोनोंके शब्दार्थमें भेद है।

देखो भाई, यदि आपको मुक्ति चाहिए तब तो वह निर्विशेष ज्ञानके बिना, निर्धर्मक ज्ञानके बिना नहीं होती—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' मुक्ति देनेमें ज्ञान परम स्वतन्त्र है। किन्तु जहाँ सगुणका ज्ञान, सगुणका दर्शन, सगुणका साक्षात्कार प्राप्त करना है वहाँ भक्ति ही स्वतन्त्र है। निर्गुण ज्ञान भक्तिमें उपयोगी नहीं है। सगुण ज्ञानसे ही भक्ति होती है। निर्गुण ज्ञान परम स्वतन्त्र है। वह बिना कर्मके, बिना उपासनाके, बिना योगके मुक्ति देनेमें समर्थ है। तब? दोनोंका विषय अलग हो गया।

अब देखो, दोनोंको अलग-अलग। जिसका हृदय कोमल है, जो भगवान्‌का नाम सुनकर, रूप सुनकर, गुणानुवाद सुनकर सौन्दर्य-माधुर्य सुनकर पिघल जाता है, जिसके हृदयमें भगवान्-ही-भगवान् दीखने लगते हैं, जिसको रोमांच हो रहा है, जिसकी आँखोंमें आँसू आ रहे हैं, जिसका कण्ठ गद्‌गद हो रहा है, जो भगवान्‌की भक्तिमें मस्त हो रहा है, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसको भक्तिके मार्गसे ही चलना चाहिए। किन्तु जिसका हृदय भगवान्‌का नाम सुनकर, गुण सुनकर, सौन्दर्य-माधुर्य सुनकर भी द्रवित नहीं होता, कण्ठ गद्‌गद नहीं होता, वह अद्रुतचित्त अधिकारी है ज्ञानका, उसके लिए ज्ञानका ही मार्ग होता है।

अब जिसमें ये दोनों हों, वह क्या करे? यह करे कि भक्ति भी करता चले और ज्ञानकी प्राप्तिका प्रयास भी करता रहे। सगुण ईश्वरकी प्राप्तिमें भक्ति स्वतन्त्र है—'भक्ति सुतन्त्र सकल गुनखानी' और निर्गुण निर्विशेष निर्धर्मक परमात्माकी प्राप्तिमें भक्ति अन्तःकरणको शुद्ध करती है और भक्तिकी प्राप्तिमें ज्ञान भजनीयके स्वरूपको प्रकट करता है। इसलिए दोनों अपने-अपने विषयमें स्वतन्त्र हैं।

अब एक और बात आपको सुनाता हूँ। जो शमदमादिसे सम्पन्न और विचारमें निपुण होता है, वह तत्त्वज्ञानका अधिकारी होता है। किन्तु जो श्रद्धालु होता है वह भक्तिका अधिकारी होता है। भक्तिमें बार-बार इष्टाकार वृत्ति दोहरायी जाती है और तत्त्वज्ञानमें जहाँ ठीक-ठीक प्रमा हुई वहाँ अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। एक ही चोटमें अज्ञानकी निवृत्ति होती है।

तो ज्ञानका फल है भक्ति, भक्तिका फल है अपने इष्टदेवकी प्राप्ति। बारम्बार प्रेमसे भगवदाकार वृत्तिको दोहराना है—उसका स्वरूप और श्रद्धा है उसका मूल। तत्त्वज्ञानमें शम-दमादि सम्पन्न व्यक्तिकी प्रमा-मूलक प्रवृत्ति है और वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्रमा है। प्रमा हो जानेके पश्चात् अज्ञानकी निवृत्ति मोक्ष है। परन्तु दोनों दोनोंमें मददगार हैं। यदि आपको भगवान्‌के मार्गमें चलना है तो आप बिना भक्तिके नहीं चल सकेंगे और यदि आप भगवान्‌को जानेंगे नहीं, तो भक्ति किसकी करेंगे? इसीलिए गीतामें भगवान् कहते हैं कि तुम भक्ति करोगे तो तुम्हें बुद्धियोग मिलेगा—

मच्चिता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

इसका तात्पर्य यह है कि अपना प्यार और अपना विचार मुझे दे दो। मेरे लिए जीओ। एक दूसरेको समझो और समझाओ, मेरी चर्चा सुनो और सुनाओ और उसमें सन्तोष मानो, उसमें रम जाओ। ऐसे ही लोगों पर कृपा करनेके लिए मैं उन्हें बुद्धियोग देता हूँ और परम प्रकाशवान, भासमान ज्ञानदीप ले करके उनके अज्ञानान्धकारको दूर कर देता हूँ।

यह देखो भक्तिका परिणाम। करोगे भक्ति और मिलेगा ज्ञान। मच्चित्त होनेसे बुद्धियोग मिलता है और बुद्धियोग होनेसे मच्चित्तता आती है। भगवान् यहाँ तो कहते हैं कि—'**मच्चित्ता मद्गतप्राणा, ददामि बुद्धियोग तं**'—अर्थात् तुम मन लगाओ मुझमें और मैं तुमको देता हूँ बुद्धियोग। किन्तु दूसरी जगह गीतामें ही बोलते हैं कि '**बुद्धियोगमुपाश्रित्य, मच्चित्तः सततं भव।**' अर्थात् पहले समझदार बनो, बुद्धियोग करो, तब तुम्हारा मन मुझमें लग जायेगा। मुझमें मन लगाओगे तो मुझको समझोगे और मुझको समझोगे तो मुझमें मन लगेगा।

अब गीताके संवाद देखो—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।

इसका नाम है ज्ञान और उसके बाद है भक्ति—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।

गीतामें अर्जुन भक्त है कि ज्ञानी है—यह बात रहने दो। श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा कि '**कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय**'—अर्जुन क्या तुम्हारा अज्ञान नष्ट हुआ? अर्जुनने उत्तर दिया कि हाँ, तुम्हारी कृपासे '**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**'—मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति मिल गयी। फिर करोगे क्या? '**करिष्ये वचनं तव**'—तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा। यहाँ भक्ति आगयी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: २ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

उपनिषदोंमें भी ज्ञान और भक्तिका वर्णन है, परन्तु वहाँ अधिकारी होनेकी शर्त है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद मायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

मुण्डको० १.२.१२

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा।

माध्यन्दिन शतपथ ७.२.२८

तात्पर्य यह कि ज्ञान-भक्तिका अधिकारी वह है जो शान्त हो, दान्त हो, उपरत हो, तितिक्षु हो, समाहित हो और श्रद्धाकी पूँजी लेकर आत्मदर्शन करनेके लिए चले, किन्तु गीताने तो ज्ञानको अरण्यभूमिसे रणभूमिमें पहुँचा दिया; ऋषि-महर्षि विरक्त वक्ताओंसे उठाकर एक सारथिको, एक सूतपूत्रको ज्ञानका उपदेशक बना दिया और शान्त, दान्त, उपरत श्रोताओंकी जगह एक शोक-मोहसे ग्रस्त अन्धे धृतराष्ट्रको श्रवणका अधिकारी बना दिया। इसका अर्थ है कि गीता पिछड़े हुए लोगोंका ज्यादा ध्यान रखती है। जिनके पास कोई सम्बल नहीं, कोई साधन नहीं, उनके लिए गीता माता अवतीर्ण हुई है। जैसे एक मित्र अपने मित्रको अपना हृदय दान करता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपना हृदय दान करते हैं, क्योंकि जैसा पहले बताया जा चुका है, गीता भगवान्का हृदय है—'गीता मे हृदयं पार्थ' और उस हृदयमें भरी है करुणा। इसीलिए गीतामें ज्ञानी होनेके लिए किसी खास अधिकारकी आवश्यकता नहीं। जैसा भक्तिका अधिकारी है, वैसा ही ज्ञानका भी अधिकारी है। इस दृष्टिसे गीता अपूर्व है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

प्रसंगानुसार कभी-कभी एक ही बातको अनेक बार कहना पड़ता है। इस श्लोककी चर्चा पहले की जा चुकी है। परन्तु यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसको बार-बार सुननेसे भी श्रोताओंको लाभ ही होगा। इसका अर्थ यह है कि दुनियामें

जितने भी पापी हैं, चाहे वे पापकृत् हों, पापकृत्तर हों, पापकृत्तम हों, उन सबको इकट्ठा करो और उनमें सबसे बड़े पापीको छाँट लो। उसको हमारा आमन्त्रण है कि वह आवे और हमारे ज्ञानकी नावपर बैठ जाय। फिर क्या होगा? यही होगा कि वह 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि—सम्यक् संतरिष्यसि केवलं ज्ञानप्लवेनैव'। बिना किसी योगाभ्यासके 'योगादि-अनपेक्षम्' और बिना किसी अन्य साधनाके। भगवान्‌की इस आश्वासन-वाणीमें जो 'एव' है वह अन्य साधनोंकी व्यावृत्तिके लिए है। उनकी दृष्टिमें मनुष्यका यह सोचना कि ज्ञानके लिए बड़े भारी साधनकी आवश्यकता है, ठीक नहीं है। इसलिए वे कहते हैं कि आओ, हमारी नावपर बैठो। यदि तुम्हारी जाति हीन है, तुम आचरणहीन हो, ज्ञानहीन हो तो क्या हुआ? आओ तुम्हारे लिए भी इस ज्ञाननौकापर बैठने और संसार-सागरसे तरनेकी इजाजत है। तुम अपने पाप-तापसे डरो मत। अपनी हीन जातिसे, अपने भ्रष्ट जीवनसे डरो मत। आओ हमारे पास आजाओ। तुम्हारे सब पाप-ताप नीचे रह जायेंगे और तुम इस नौकासे पार हो जाओगे।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

देखो, कभी-कभी मनुष्यके पाँव फिसल जाते हैं। ऐसा कौन है, जो रास्तेमें चलता रहे और उसके पाँव फिसल न जायें, कभी कीचड़में न जायें? पाँव तो ब्रह्माके भी फिसल जाते हैं, इन्द्रके भी फिसल जाते हैं। पाँव फिसल जाना अपराध नहीं है, गिर जाना भी अपराध नहीं है; अपराध है फिसलकर, गिरकर फिर न उठना और आगे न बढ़ना। इसलिए फिसलनेके बाद, गिरनेके बाद उठे तो फिर पाँव आगेकी ओर ही बढ़ें, पीछेकी ओर न लौटे। यदि आप आगेकी ओर बढ़ते जा रहे हैं तो आपके पीछेके सब पाप-ताप नष्ट होते जा रहे हैं और प्रतिक्षण पिछले कर्मोंका नाश होता जा रहा है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि बड़े-से-बड़ा दुराचारी भी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करता है तो उसे तुम साधु ही समझो, क्योंकि वह भजनके प्रभावसे जल्दी ही महात्मा हो जायेगा। इससे बढ़कर कोई आश्वासन और क्या हो सकता है?

देखो, भागवतमें गोपियोंका ऐसा वर्णन किया है कि उसे पढ़-सुनकर जो गोपियोंके भक्त हैं, वे व्याकुल हो जाते हैं—

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥

—श्रीमद्भा० १०.४७.५९

श्रीधर स्वामीने इसकी तीन व्याख्या की है। गोपियाँ जातिहीन हैं, आचारहीन हैं, ज्ञानहीन हैं, परन्तु उनके हृदयमें भगवान्‌का प्रेम है। यदि कोई अनजानमें भी अमृत पीले तो वह अमर हो जायेगा। अनजानेमें भी उसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आजाये तो वह अमर हो जायेगा। भगवान्‌की भक्ति ऐसी है जो पीछे छूट जानेवालेको आगे बढ़ाती है, गिरे हुएको ऊपर उठा लेती है, मूर्खको विद्वान् बना देती है, आचारहीनको पवित्रतम कर देती है और पतितसे पतितको चुटकी बजाते धर्मात्मा बना देती है—'**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।**' गीताकी भक्ति और गीताका ज्ञान दोनों पतितपावन हैं।

अब आपको एक विचारकी बात सुनाते हैं। आपने कभी ध्यान दिया है कि आप क्या चाहते हैं? अद्भुत बात है आपके जीवनमें कि आप चाहते हैं कुछ, किन्तु प्रयास करते हैं किसी औरके लिए। निस्सन्देह आप चाहते सुख हैं। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं, जो सुखको न चाहता हो। 'सुखं मे भूयात् दुःखम् मे माभूत'—सब प्राणियोंकी यह स्वाभाविक लालसा होती है कि हमको सुख हो, दुःख न हो। इसलिए एक चीज ऐसी हुई जिसको सब चाहते हैं। किन्तु अब आप देखिये कि आपको सुख किस समय मिलना चाहिए? सब समय मिलना चाहिए या किसी अवसर-विशेषपर मिलना चाहिए? आपको कहाँ-कहाँ सुख मिलना चाहिए? आप किस-किससे सुख चाहते हैं? पराधीन सुख चाहते हैं या स्वाधीन सुख चाहते हैं? अवश्य ही आप ऐसा सुख चाहते हैं जो सब समय हो, सबमें हो, सब जगह हो, स्वाधीन हो, मालूम पड़ता हुआ हो, सबसे मिलनेवाला हो, बिना श्रमका सिद्ध सुख हो और ज्ञानस्वरूप हो। अब आप इन सब बातोंको ध्यानमें रखिये, आपकी चाहमें ये सब बातें हैं कि नहीं? यदि हैं, तो भाई मेरे, ऐसे सुखका नाम केवल ईश्वर हो सकता है।

अब यह निश्चय हो गया कि आप उस सुख-स्वरूप परमेश्वरको ही चाहते हैं। परन्तु यह भी तो देखिये कि आप उसको ढूँढ़ने कहाँ जाते हैं? आप तो 'अनित्यमसुखं लोकम्'—अनित्यमें नित्यको ढूँढने जाते हैं। जहाँ जो चीज है, वहाँ उस चीजको न ढूँढ़कर दूसरी-दूसरी जगह भटकते फिरते हैं। इसलिए पहले आप

उसका ज्ञान प्राप्त कीजिये, उसको पहचानिये फिर भी वह आपको मिलता नहीं है तो भी बड़ी श्रद्धासे बड़ी रुचिके साथ उसको ढूँढ़िये। जो चीज दीखती नहीं, उसको ढूँढ़ना हो तो उसके लिए श्रद्धा चाहिए, रुचि चाहिए और लगन चाहिए। इन तीनोंको एकमें मिला दोगे तो उसका नाम होगा भक्ति। अपनी किसी भी प्रिय परोक्ष वस्तुको प्राप्त करनेके लिए श्रद्धा, रुचि और लगन; इन तीनोंका आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य है। इसलिए गीता कहती है—'**श्रद्धवाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**'

अब आओ कुछ निर्गुण सगुणकी चर्चा करें। यह बात आप बराबर ध्यानमें रखिये कि आप ईश्वरको चाहते हैं—*'बिनु देखे रघुवीर पद जियकी जरनि न जाय।'* जबतक आप भगवान्‌के पास नहीं पहुँचोगे तबतक आपके हृदयमें जो आग लग रही है, वह बुझेगी नहीं। शंकराचार्य भगवान्‌से किसीने पूछा कि आप ज्ञानकी बड़ी महिमा बताते हैं, किन्तु क्या इससे हमारे जीवनमें भी कुछ मिलेगा या केवल बात-ही-बात रह जायेगी? श्रीशंकराचार्यने उत्तर दिया कि ज्ञानसे तुम्हारे राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी। दुनियामें किसीके प्रति राग न हो, द्वेष न हो, पक्षपात न हो, क्रूरता न हो, किसीके लिए बेइमानी न हो और किसीकी हिंसा न हो, तो इससे बढ़कर दूसरी उपलब्धि और क्या होगी? इसलिए आप ज्ञानके मार्गमें आओ।

अब देखो गीतामें भगवान् एक जगह तो कहते हैं कि तुम भक्ति करो मेरी और तुम्हें मिलेगा ब्रह्म तथा दूसरी जगह कहते हैं कि तुम ब्रह्मका करो चिन्तन और तुम्हें मिलूँगा मैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरी भक्ति करता है, वह गुणातीत होकर ब्रह्म हो जाता है। भक्ति करेगा भगवान्‌की और हो जायेगा ब्रह्म और भक्ति करेगा ब्रह्मकी, उपासना करेगा ब्रह्मका, चिन्तन करेगा ब्रह्मका और मिल जायेंगे भगवान्।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्र, अगम, अचिन्त्य, अचल, ध्रुवकी उपासना करते हैं तथा जो समबुद्धि हैं और 'सर्वभूतहिते रताः' हैं उनको मेरी प्राप्ति होगी। कितना अद्भुत है कि जिसका ज्ञान होता है, उसीकी भक्ति होती है।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः॥

भगवान्‌में मनको लगाओ 'मच्चिता मद्‌गतप्राणाः' हो जाओ, भगवान् तुम्हें बुद्धियोग देंगे। फिर कहते हैं—

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव।

लो बुद्धियोग और मन लगाओ मुझमें। कहनेका अभिप्राय यह है कि जहाँ लक्ष्यपर दृष्टि है, वहाँ ज्ञानके रास्तेसे चलो चाहे भक्तिके रास्तेसे चलो, जबतक आपको अपने लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक आप बीचमें नहीं बैठ सकते। यदि आप लक्ष्यके पक्के हैं तो जबतक आपका तीर लक्ष्यमें नहीं लगे तबतक 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यम्' प्रमाद नहीं करना और बीचमें फँसना नहीं।

अब इन दोनोंकी बात आपको सुनाता हूँ। यह जो ज्ञान और भक्ति शब्दोंका प्रयोग होता है इनके अर्थ भी जुदा-जुदा होते हैं। उदाहरणके तौरपर देखिये, गीताके एक श्लोकमें जहाँ भगवान्‌को ज्ञानस्वरूप बतलाया है, वहीं ज्ञानगम्य भी बताया है-

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्व विष्ठितम्।

यह ब्रह्मका वर्णन है। वह ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानसे ही जाना जाता है। मतलब यह कि उनके मिलनेका साधन भी ज्ञान ही है और वह स्वयं भी ज्ञानस्वरूप है। अब यहाँ ज्ञान दो हो गये—एक साधन ज्ञान हो गया और दूसरा परमात्माका स्वरूप ज्ञान हो गया। इसको समझना पड़ता है कि कहाँ साधन ज्ञानका वर्णन है और कहाँ परमात्मस्वरूप ज्ञानका वर्णन है।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।

× × ×

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा॥

जीवनमें अभिमान नहीं करना, दम्भ नहीं करना, हिंसा नहीं करना और कुटिलता नहीं करना—इसका नाम ज्ञान है। इसके विपरीत अभिमान करना, दम्भ करना, हिंसा करना और कुटिलता करना इसका नाम अज्ञान है। तब परमात्माकी प्राप्तिका साधन ज्ञान क्या है? यही है कि—'निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः'। अभिमान छोड़ो, दम्भ छोड़ो, हिंसा छोड़ो, कुटिलता छोड़ो। इसीका नाम है साधन-ज्ञान और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है, विज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार जहाँ साधन-ज्ञानका वर्णन है वहाँ भक्तिका भी वर्णन है। ज्ञानके बीस साधन हैं जिनमें भक्ति भी सम्मिलित है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

भक्ति क्या है? ज्ञानका साधन है अर्थात् साधन है। अब एक दूसरी बात देखो—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

ब्रह्मभूत: परां मद्भक्तिं लभते—ब्रह्म होकर मेरी पराभक्तिको प्राप्त होता है। यहाँ ब्रह्म पहले हुआ; और भी साधन हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥

अन्तमें बताया कि—'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्'—तत्त्वज्ञानसे भगवान्‌की पराभक्ति मिलती है, किन्तु महात्मा लोग दोनोंको एक कर देते हैं—**'ज्ञानस्य या पराकाष्ठा सा भक्तिः परकीर्तितः'** ज्ञानकी पराकाष्ठाका नाम है भक्ति और 'भक्तेषु या पराकाष्ठा तद्विज्ञानं प्रकीर्तितम्'। भक्तिकी जो पराकाष्ठा है, उसका नाम है ज्ञान, जहाँ हम लक्ष्यसे मिलकर एक हो गये। यदि ज्ञान और भक्तिका द्वैत रह गया तो अद्वैतकी सिद्धि भी नहीं हुई। यदि ज्ञान दूसरी चीज है और भक्ति दूसरी चीज है तो परमात्माकी प्राप्ति क्या हुई? वहाँ तो समग्र सृष्टि भी परमात्मासे पृथक् नहीं है तो ज्ञानसे भक्ति कैसे अलग हो जायेगी? यह तो अत्यन्त प्यारी है भगवान्‌की।

इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा कि—*'भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा'*—ज्ञान और भक्तिमें कोई भेद नहीं है। यही अभेद-दृष्टि है। उन्होंने जो यह कहा है कि माया नर्तकी है—*'माया खलु नर्तकी बेचारी'* और भक्ति भगवान्‌की बहुत प्यारी है, वह केवल काव्यका वर्णन है। यह समझानेकी बात है कि रामचरितमानस दर्शनशास्त्र नहीं है काव्यशास्त्र है। काव्यशास्त्रमें और दर्शनशास्त्रमें फर्क होता है।

अब आपको एक दूसरी बात सुनाता हूँ। जिसके हृदयमें भक्ति आजाती है उसको फिर छोड़ती नहीं है। यह भक्तिका स्वभाव है। भक्ति चार प्रकारकी होती है—आर्तकी भक्ति, जिज्ञासुकी भक्ति, अर्थार्थीकी भक्ति और ज्ञानीकी भक्ति—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

गजेन्द्र आर्त होकर पुकारता है कि प्रभो, दौड़ो-दौड़ो, हमारी रक्षा करो। किन्तु गजेन्द्र तो जन्म-जन्मका भक्त है, वह डर कैसे गया? नहीं भाई, वह मृत्युसे नहीं डरता। यह जो प्रभुके और उसके बीचमें पर्दा आगया है, इससे डरता है। 'आत्मलोकावरणस्य मोक्षः'—हमारे आत्मा और परमात्माके बीचमें जो आवरण आगया है, पर्दा आगया है, वह न रहे, यह हम चाहते हैं। अन्यथा मौतमें क्या रखा है? भगवान् हमारे सामने हों तो हजार बार मौत आवे और हजार बार जाये। आर्त भक्त यदि मृत्युसे डर जायेगा तो भक्त नहीं होगा। एक अन्तःकरणमें मृत्युकी भी याद रहे और भगवान्‌की भी याद रहे—ये दो प्यार एक साथ कैसे रह सकते हैं? इसी तरह एक साथ दो ज्ञान भी नहीं हो सकते। इसीलिए आर्त भक्त कहता है कि प्रभो, हम मृत्युसे नहीं डरते, लेकिन आपके और हमारे बीचमें जो यह पर्दा है इससे बहुत डरते हैं। इसीलिए आप इस पर्देको हटा दीजिये।

अब जिज्ञासु भक्तकी बात लो। उद्धवजी जिज्ञासु भक्त हैं, वे कहते हैं कि प्रभो ज्ञानका उपदेश आपके सिवाय और कोई नहीं कर सकता। ध्रुव अर्थार्थी भक्त हैं; लेकिन इनकी अर्थ-वासना निरस्त हो चुकी है। वे ध्रुवलोकमें रहते हैं। नारदजी भी कभी उनके यहाँ हो आते हैं तो देखते हैं कि ध्रुवजी बैठे हैं, उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिर रहे हैं और प्रार्थना कर रहे हैं कि प्रभो, मैंने जो आपके सामने ऐश्वर्य, स्थिरधाम, और राज्यकी वासना रख दी, वह मेरे जीवनमें सबसे बड़ी गलती हुई। हमें इस ध्रुवपदसे मुक्त कर दीजिये। भगवान्‌की शरण ऐसी है कि वहाँ कोई धनके लिए जाये तो अन्तमें धनकी वासना नहीं रहती, केवल भगवान्‌की वासना रह जाती है। ज्ञानी भक्त सनत्कुमार हैं, नारद हैं, शिव हैं। उनको ज्ञान है, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वका बोध है। ये ज्ञानी होनेपर भी भगवान्‌का भजन करते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि ज्ञान होनेपर फिर ये भक्त कैसे? श्रीमधुसूदन सरस्वतीने गीताटीकामें कहा कि जैसे ज्ञानी होनेपर प्रयत्नसे राग-द्वेषका अभाव नहीं करना पड़ता, स्वतः हो जाता है वैसे ही उनके स्वभावमें भगवान्‌की भक्ति हो जाती है। उनका स्वभाव कृत्रिम नहीं होता, उनमें कर्मजन्य भक्ति नहीं होती, स्वतः भक्ति होती है। इसकी एक युक्ति है। देखिये, अपने आत्मासे सबका प्रेम होता है कि नहीं? अपने आत्मासे तो सबका प्रेम होता है। इसी तरह ज्ञानीको ईश्वरके साथ एकताका बोध हो जाता है और जब आत्मा और ईश्वर एक हो जाते

हैं, तब जो प्रेम केवल आत्मासे था, वह ईश्वरके साथ हो जाता है। इसको ऐसे समझो कि जो प्रेम पहले केवल त्वं-पदार्थसे था वह तत्पदार्थके साथ एकता होनेके बाद त्वं-पद और तत्पदके लक्ष्यार्थके साथ हो जाता है। इसीको आत्मरति बोलते हैं। गीतामें कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

जबतक ईश्वर अलग रहता है तबतक उससे प्रेम किया जाता है और जब ईश्वर आत्मासे अभिन्न हो जाता है तब प्रेम किया नहीं जाता, वही आत्म-प्रेम स्वाभाविक रूपसे चलता रहता है।

अब यदि कहो कि भक्ति ज्ञानमें कुछ बाधा तो नहीं डालती? नहीं, ऐसी बात नहीं है—

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

वहाँ तो भक्ति-ज्ञानमें प्रियताका आदान-प्रदान हो जाता है। भगवान्‌का प्रिय हो जाता है ज्ञानी, ज्ञानका प्रिय हो जाता है भगवान् और प्रियता होती है एक। ज्ञानमें अभिन्न हो जाता है।

अब एक बात और देखो, भक्त और ज्ञानी दोनों परमात्माको आनन्दरूप मानते हैं, सच्चिदानन्द मानते हैं तथा जगत्‌को दुःखरूप मानते हैं—'दुःखालयम् अशाश्वतम् अनित्यसुखं लोकम्।' इसी तरह परमात्मा चेतन है और जगत् जड़ है, यह भक्त और ज्ञानी दोनों मानते हैं। ज्ञानीमें एक बात और है। वह यह है कि ज्ञानी परमात्माको तो मानता है सत् और प्रपञ्चको मानता है असत्। यदि सच्चिदानन्दमें आनन्दके विरुद्ध जगत् दुःख है और चित्‌के विपरीत जगत् जड़ है तो सत् परमात्माके विपरीत यह जगत् असत्य क्यों नहीं है? यदि परमानन्द परमात्मा सच्चिदानन्द घन है तो जगत् असत् है, अज्ञान है, दुःख है। यह बात दूसरे भक्तोंने अपनी ओरसे कहनेमें थोड़ा संकोच किया है, किन्तु गोस्वामी तुलसीदासजीने सम्भवतः काशीवासी होनेके कारण शास्त्रीय निरूपण करते हुए कहा है—

रज्जौ यथाहेर्भ्रमः। ***सत् हरि भजन जगत् सब सपना। एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत् देत दुःख अहई। भास सत्य इव मोह सहाया। योगवियोग भोग भल मन्दा।***

जनम कर्म जहँ लगि जग जालू। संपति विपति कर्म अरु कालू॥
देखिय सुनिय गुनिय मन मांहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥
जदपि मृषा छूटत कठिनई।

यदि प्रपञ्च आनन्दके विपरीत है, चित्‌के विपरीत है, तो सत्‌के विपरीत है। जो सत्‌के विपरीत होता है वह असत् होता है। इसलिए आओ यह समझें कि प्रपञ्च सत्‌के विपरीत है। ज्ञानी पुरुष जब प्रपञ्चसे उपराम होता है, तब भी भक्ति उससे अलग नहीं होती। उसने पहले जो भगवान्‌की भक्ति की है, वह बेचारी उसको छोड़कर कहाँ जायेगी? जो भगवान्‌से प्रेम करनेवाला है, वह अपने प्रियतमके प्रेमीसे भी प्रेम करता है—'**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः**'। इस संसारकी भी यही रीति है कि पिताका कोई प्रिय व्यक्ति आजाये, पतिका कोई प्रिय व्यक्ति आजाये, पुत्रका कोई प्रिय व्यक्ति आजाये तो उसका भी सत्कार किया जाता है, उससे भी प्रेम किया जाता है।

जबतक ज्ञान नहीं हुआ तभीतक द्वैत बन्धनका हेतु है। जब ज्ञान हो गया तब जैसे शरीर है और दुनिया दीखती है, वैसे ही पहलेकी तरह भक्ति बनी रहती है और वह मोह नहीं उत्पन्न करती, सुख देती रहती है।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित् मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

अरे, एक होकर क्या बैठें? हैं तो एक, पर एक होकर बैठेंगे नहीं। अपना पति बहुत प्यारा है, अपनी पत्नी बहुत प्यारी है, दोनोंमें कोई पर्दा नहीं है। एकान्तमें मिलते हैं, निरावरण मिलते हैं, पति और पत्नीका परस्पर रोम-रोम देखा हुआ है। लेकिन जब भरी सभामें बैठते हैं तब मर्यादानुसार अलग-अलग बैठते हैं। भेद नहीं है; परन्तु भेदभक्तिसे आराधना करते हैं। जिस प्रकार पत्नीका प्राणेश्वरके साथ मन मिला हुआ रहता है, तन मिला हुआ रहता है, लेकिन जब वह लोगोंके बीच बैठती है तब घूँघटकी ओटसे देखती है, उसी प्रकार परमात्मासे एक होनेपर भी जब लोक-व्यवहारमें आते हैं तब उसकी वन्दना करते हैं।

प्रेयसी अपने प्रियतमके वक्षःस्थपर रीतिसे विहार करे अथवा उसके चरणोंमें बैठकर उसके पाँव दबावे, इसमें कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष समाधिमें परमात्मासे अभिन्न होकर बैठे अथवा भगवान्‌की भक्ति करो—एक ही बात है। तत्त्वज्ञानी वह है जिसको किसी भी अवस्थामें भेद नहीं है। भक्तिमें भेद नहीं है।

'**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः**' गीतामें भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी मेरा अत्यन्त प्रिय है। 'अत्यर्थम् अर्थं अतिक्रम्य प्रियः'। हमारे और उसके बीचमें कोई अर्थ, कोई दूसरी चीज, कोई आवरण नहीं है। देखो, ज्ञानमें यह होता है कि पर्दा अपने आप फाड़ना पड़ता है श्रवणके द्वारा, मननके द्वारा, निदिध्यासनके द्वारा, आत्मसाक्षात् करके आवरण भङ्ग करना पड़ता है। जिज्ञासुको अपने हाथसे अपना पर्दा फाड़कर प्रियतमसे मिलना पड़ता है। किन्तु भक्तिमें स्वयं भगवान् चीरहरण करते हैं, स्वयं पर्दा हटाकर मिलते हैं। पर्दा हटानेका काम प्रियतमका है, प्रभुका है—यह भक्ति है और हम पर्दा हटाकर भगवान्से मिलेंगे—यह ज्ञान है। मुग्धा और प्रौढ़ामें यही भेद होता है कि मुग्धताका पर्दा हटाना पड़ता है तथा प्रौढ़ा पर्दा हटाकर मिलती है। इस तरहसे केवल रसिक कवियोंने ही नहीं, सूफी महात्माओं और कवियोंने भी इसी प्रकार वर्णन किया है।

अब आओ फिर भक्तिकी बात करें—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १.८.१०)

आत्माराम हैं माने अनात्माराम नहीं हैं। जो किसी दूसरे बगीचेमें घूमनेके लिए नहीं जाते, अपने ही बगीचेमें विहरण करते हैं, अपने आपमें रमते हैं, वे आत्माराम हैं—'**आत्मैव आरामो येषां आत्मारामो रमणं येषाम् मुनयः**' माने मुनि, तल्लीन मानसाः—डूबे रहते हैं परमात्मामें। 'निर्ग्रन्था अपि' जिनकी सारी गाँठ छूट गयी है—जिनमें न कामग्रन्थि है, न लोभग्रन्थि है, न मोहग्रन्थि है, न शिखाग्रन्थि है; न सूत्रग्रन्थि है, न नीविग्रन्थि है, न हृदयग्रन्थि है और न अविद्याग्रन्थि है। निर्ग्रन्थ माने पोथी-पन्ना भी नहीं है, जो वेद अवेदसे ऊपर उठ गये हैं। 'अपि उरुक्रमे कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम्'—ऐसे ज्ञानी लोग भी भगवान्की भक्ति करते हैं।

एक बार हाथी बाबाजी महाराज हमारे पास बैठे थे। मैं उन दिनों वृन्दावनके परमहंस आश्रममें रहता था। एक सज्जन आये और उन्होंने हमसे पूछा कि स्वामीजी राम-राम कहनेसे क्या फायदा होता है? मेरे बोलनेसे पहले ही हाथी बाबाजी बोल पड़े कि क्यों जी! यह बनिया है क्या? सब काममें इसको फायदा ही चाहिए। अरे भाई कुछ स्वाभाविक भी होता है।

मैंने सुना है, एक बनिया यमराजके दरवाजेमें गया तो यमराजने कहा भाई, तुम्हारे पाप भी हैं, पुण्य भी हैं। तुम पहले नरकमें जाना पसन्द करोगे कि स्वर्गमें?

बनियाने सोच-विचारकर कहा—जहाँ दोनोंके मार्ग मिलते हों, चौराहा हो, वहाँ हमारी दूकान खुलवा दीजिये। जो लोग स्वर्गमें जायेंगे वे भी हमारा सौदा खरीदेंगे जो नरकमें जायेंगे, वे भी सौदा खरीदेंगे। हमारा तो माल बिकना चाहिए।

तो यह हँसीकी बात बीचमें आगयी। हम आपको भागवतके श्लोकका अर्थ बता रहे थे। 'कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम्' ज्ञानी लोग अहैतुकी भक्ति करते हैं, किसी की आज्ञा मानकर भक्ति नहीं करते। वे आज्ञाकारी नहीं हैं, किसी प्रयोजनसे भक्ति नहीं करते। देखो, हेतुमें प्रेरणा भी है, प्रेर्य भी है। भगवान्‌की भक्ति करनेसे हमको यह मिलेगा, वह मिलेगा—इसलिए नहीं करते और कोई डण्डा मारकर उनसे भक्ति करवाता हो, यह बात भी नहीं है। वे तो निर्हेतुक भक्ति करते हैं। क्यों करते हैं? इसलिए करते हैं कि उनमें अपना गुण नहीं होता, ज्ञानी लोग अपनेमें गुण नहीं रखते। यदि अपनेमें गुण रखें तो उनको गुणका अभिमान होगा और तब गुण-ही-गुण रह जायेंगे। चाहे वे सात्विक हों, राजस हों या तामस हों। कुछ-न-कुछ रहेंगे जरूर—या तो विषय रहेंगे या इन्द्रिय रूप गुण रहेंगे या अन्तःकरण रूप गुण रहेगा। इसीलिए ज्ञानी लोग अपनेमें गुण नहीं रखते। नास्तिक लोग कहते हैं कि गुण-दोषकी बात झूठी है, विवेकी लोग कहते हैं कि गुण प्रकृतिके हैं, भक्तलोग कहते हैं कि गुण न तो परमाणुओंके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं, न द्रव्याश्रित हैं माने द्रव्यमें नहीं हैं, न प्रकृतिके गुण हैं न मायाके गुण हैं, ये सारे गुण तो भगवान्‌के हैं। जो गुणोंकी प्रकृतिको समझेगा, उसको होगा वैराग्य, उसको होगी असङ्गता और असङ्गता होनेपर हो जायेगी अद्वितीयता। जो गुणोंको भगवान्‌का समझेगा, वह उनको देखकर मस्त होगा और कहेगा कि गुण भगवान्‌के हैं, इसलिए आनन्दमें रहो—'इत्थम्भूतगुणो हरिः।'

भगवान् कहते हैं कि मेरे प्यारे ज्ञानी! तुमने गुणोंको छोड़ दिया है। तुम घड़ी नहीं रखते हो, तो लो, अब मैं तुम्हारे लिए घड़ी रखा करूँगा, मैं तुम्हें समय बता दिया करूँगा। तुम अपने घरमें अन्न-पानी भी नहीं रखते तो मैं रखा करूँगा। इस प्रकार ज्ञानको जिन-जिन गुणोंकी आवश्यकता होती है, उन सब गुणोंको भगवान्‌ने धारण कर लिया और बोले कि यह नाच देखनेके लिए कहीं नृत्यशालामें तो जायेगा नहीं, इसलिए मैं ही इसको नाच दिखाऊँगा। यह संगीत सुनने लिए कहीं जायेगा नहीं तो मैं ही इसको गाकर सुनाऊँगा और संगीतमें वाद्यके स्थानपर बाँसुरी बजाऊँगा। इस तरह ज्ञानकी सेवा भगवान् करते हैं—'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूजयाम्यङ्घ्रिरेणुभिः। भगवान्‌की यह नम्रता, यह विनय, यह कोमलता, यह

सहृदयता देख-देखकर ज्ञानी मुग्ध होता रहता है। फिर वह भगवान्‌का भजन नहीं करेगा तो क्या संसारका भजन करेगा?

एक बार किसीने श्रीउड़ियाबाबाजीसे पूछा कि महाराज मुझे ब्रह्मज्ञान हो गया, अब कुछ कर्त्तव्य नहीं है, मैं क्या करूँ? बाबा बोले कि बेटा, अब ब्याह कर लो। अरे भाई, जब तुम्हारे कोई कर्त्तव्य नहीं हैं, तुमको ब्रह्मज्ञान हो गया तो जो अच्छी-से-अच्छी चीज है सो करो।

अब एक बात देखो। इससे ज्ञानकी महिमा कम नहीं होती। इसमें एक साथ भक्ति भी है, ज्ञान भी है और उसकी तरफ मैं आपका ध्यान खींचता हूँ—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

जीवन्मुक्त कौन है? वह है जिसकी स्थिति यह है—'**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।**' अब लो उसने 'यो मां पश्यति सर्वत्र'—सबमें देखा भगवान्‌को, 'सर्वभूतेषु चात्मानम्'—सबमें देखा अपने आत्माको और 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'—इस प्रकार आत्मा और परमात्माकी एकता हो गयी। अब वह चाहे कैसे भी रहे—वसिष्ठकी तरह पुरोहित रहे, दत्तात्रेयकी तरह मस्त रहे, शुकदेवकी तरह समाधिस्थ रहे अथवा जनककी तरह राजा रहे, कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह गीता-विद्या तो राजाओंकी भी विद्या है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

ज्ञानीके लिए यह विधि, यह नियम, यह अनिवार्य नहीं है कि वह भक्ति ही करे। यदि उसके स्वभावमें भक्ति है तो भक्ति करेगा, नहीं है तो नहीं करेगा। भक्ति न करनेसे उसकी मुक्तिमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। ज्ञानी चाहे जैसे भी रहे, लेकिन भक्त अपने प्यारे भगवान्‌को छोड़कर चाहे जैसे नहीं रह सकता। जबतक उसका अन्तःकरण है, तबतक भक्ति उसका पिण्ड छोड़कर कहीं नहीं जाती। 'ज्ञानी च मयि संन्यस्य'—अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर ज्ञानवृत्तिका भी परित्याग हो जाता है, परन्तु भगवत्प्राप्ति हो जानेपर भक्ति छूटती नहीं, और-और बढ़ती जाती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ३ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

जब भगवान् यह कहते हैं कि अर्जुन गीता मेरा हृदय है—'गीता मे हृदयं पार्थ'। तब उसका तात्पर्य क्या है? यही कि भगवान्‌के हृदयमें जो करुणा है, प्रेम है, ज्ञान है, वह सब गीताके रूपमें प्रकट हुआ है। एक महात्मा कहा करते थे कि गीता शास्त्र नहीं, मित्रके प्रति मित्रकी वाणी है। अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों नित्यसखा हैं। जिस प्रकार एक मित्रके मनमें कोई दुविधा आजाये तो दूसरा मित्र सहज स्नेहसे, प्रेमसे उसको सुझाव देता है, सलाह देता है, कभी-कभी बलात् भी, कुछ चुटकी लेकर भी, हँसकर भी, डाँटकर भी अपने मित्रको ठीक रास्तेपर ले चलता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको ठीक रास्तेपर चलनेके लिए गीताका उपदेश करते हैं। उपदेश माने मार्ग दिखाना, पाससे लक्ष्यको दिखा देना।

अब आओ कुरुक्षेत्रमें। एक ओर धर्मक्षेत्र है दूसरी ओर कुरुक्षेत्र है। जिधर पाण्डव हैं उधर धर्मक्षेत्र और जिधर कौरव हैं उधर कुरुक्षेत्र। एक ओर आसुरी सम्पत्ति है दूसरी ओर दैवी सम्पत्ति है। ऐसी बात प्रधानतासे ही कही जाती है, अन्यथा कौरवपक्षमें भी दैवी सम्पदा है, पाण्डव पक्षमें भी आसुरी सम्पदा है। घटोत्कच आदि आसुरी सम्पदावाले पाण्डव पक्षमें हैं और कर्ण, भीष्म आदि दैवी सम्पदावाले कौरव पक्षमें हैं। यदि दोनों पक्षोंमें थोड़े-थोड़े दैवी सम्पदावाले न हों तो युद्ध टिक नहीं सकता और आसुरी सम्पदावालोंका नाश नहीं हो सकता। कुछ उधरसे लेकर आये और कुछ इधरसे लेकर आये। दोनों भगवान्‌की इच्छा पूरी कर रहे हैं, आसुरी सम्पदावालोंका विनाश हो रहा है।

भगवान्‌में जितने गुण हैं और जितनी शक्तियाँ हैं, वे परस्पर विरुद्ध भी होती हैं। उनमें एक ओर वात्सल्य है, स्नेह है तो दूसरी ओर असंगता भी है। वे सबसे असंग भी हैं और सबपर स्नेह भी करते हैं। कभी-कभी स्नेह और असंगतामें लड़ाई हो जाती है। जब लड़ाई हो जाती है तब भगवान् पंचायत करनेके लिए अपनी सर्वशक्ति—चक्रवर्तनी भगवती करुणाको न्यायासनपर बैठा देते हैं और कहते हैं कि हे करुणा, तुम निर्णय करो। भगवान्‌के हृदयमें जो सर्वोत्तम शक्ति है, उसका नाम करुणा है—*'है तुलसी परतीति एक प्रभुमूरति कृपामयी है'*। यदि भगवान्‌के हृदयमें करुणा न हो, अपने भक्तोंके प्रति पक्षपात न हो तो सब लोग यमराजके दरवाजेपर ही जाकर पाप-पुण्यका निर्णय करवा लेंगे, भगवान्‌के पास जानेकी

आवश्यकता ही क्या रहेगी? भगवान्‌का हृदय करुणासे भरपूर है और वह सब जीवोंपर समानरूपसे है।

एक बात आपके ध्यानमें रहनी चाहिए। धर्म केवल बड़े-बड़े विद्वानों, योगियों, भक्तों अथवा सदाचारियोंके लिए नहीं होता। कोई भी धर्म तभी टिकाऊ रह सकता है, जब वह नीचे गिरे हुएको ऊपर उठावे। जो जातिसे हीन है, आचारसे हीन है, ज्ञानसे हीन है उसकी हीनताका निवारण करके उसको ऊपर उठानेके लिए भागवत-धर्म आता है और बोलता है कि दुराचारी-से-दुराचारी भी हमारी ओर आजाये तो हम उसका कल्याण कर देते हैं। इसलिए जो हीनको उत्तम बनावे, उसीका नाम धर्म होता है। वही धर्म गीताके द्वारा प्रकट हुआ है, उसीको गीता धर्म बोलते हैं। अद्भुत है इसकी महिमा।

भगवान्‌का गीतारूप हृदय उनके शरीरके भीतर नहीं रह सका, छलक पड़ा, भगवान्‌ने बोलकर गीताका उपदेश नहीं किया। भगवान्‌की नाभिमें एक कमल है, कमलमें ब्रह्मा हैं, ब्रह्माके मुँहसे वेदका उच्चारण हुआ है। गीता भगवान्‌के हृदयमें छिपी रह गयी। वह नाभिपद्ममें अथवा ब्रह्माजीके मुँहमें नहीं आयी, स्वयं छलक पड़ी हृदयसे और नाभिपद्म तथा ब्रह्माका सहारा लिये बिना भगवान्‌के मुखपद्मसे प्रकट हुई—

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।

(गीतामाहात्म्य)

यह भगवान्‌की करुणा ही है, जो गीताके रूपमें दीन-हीनका उद्धार करनेके लिए आयी। इसमें सबके लिए स्थान है। असलमें भगवान्‌की वाणी होती ही वही है, जो उनके सब पुत्रोंके लिए हो। बाप वही है, जो अपने सब बेटोंका भला करना चाहता है—चाहे कोई तमोगुणी हो, रजोगुणी हो, सत्त्वगुणी हो अथवा गुणातीत हो। कोई भी हो, हैं तो सब भगवान्‌के। इसलिए भगवान्‌की वाणी सबका मङ्गल, सबका कल्याण करनेके लिए प्रकट हुई है। यह भगवद्वाणी सारी प्रजाका हित करनेके लिए और सबके अन्दर सद्भाव, चिद्भाव और आनन्द-भाव भरनेके लिए प्रकट हुई है। इसमें भगवान्‌का जो सद्भाव है उससे कर्मयोग निकलता है, भगवान्‌का जो चिद्भाव है उससे ज्ञानयोग निकलता है और भगवान्‌का जो आनन्दभाव है उससे भक्ति निकलती है। भगवान्‌की सच्चिदानन्दमयी वाणी वही है जो सबको जीवन दान दे, सबको ज्ञानदान दे और सबको आनन्ददान दे। सबके आनन्दके लिए, सबके ज्ञानके लिए और सबके जीवनके उत्थानके लिए जो हो

उसीका नाम भगवान्‌की वाणी होता है। 'त्रिगुणभावमयत्वात् भगवद्वाक्यस्य' त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तमकी प्रकृतिवालोंमें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव भरनेके लिए ही भगवान्‌की वाणी निकलती है।

इसलिए जब हम गीताका उपक्रम करते हैं तब 'अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्' बोलते हैं। अम्ब माने वर्णमयी अक्षरमयी माँ होता है— अबि वर्णे। इसी अम्बका अम्मा हो गया और गुजरातमें केवल बा बनकर रह गया। आप वर्णात्मा अक्षरात्मा, शब्दात्मा माँ गीताकी शरण लें।

अब सद्भाव, चिद्भाव तथा आनन्दभावमें-से आनन्दभावकी ही बात करते हैं। आनन्दभावमें भक्ति आती है। अशुद्धान्त:करणमें जो आनन्दका प्रतिविम्ब ग्रहण होता है, उसका नाम प्रीति हो जाता है। प्रीति क्या है? जब अन्त:करण भगवान्‌के सम्मुख होता है और उसमें भगवान्‌का आनन्दभाव प्रतिविम्बित होता है तब उसका नाम भक्ति हो जाता है। पर इसमें एक बात जल्दी ध्यानमें नहीं आती। यदि आनन्द निष्क्रिय होता, निर्गुण होता, निर्विशेष होता, तब तो यह कहना पड़ता कि हृदयमें आनन्दका प्रतिबिम्बन होता है, लेकिन आनन्दस्वरूप भगवान् स्वयं जब प्राणीके हृदयमें प्रकट होते हैं, तब उसका नाम भक्ति होता है। हृदयमें भगवान्‌के आनन्दभावकी अभिव्यक्तिको भक्ति कहते हैं। प्रयत्नवादी, पौरुषवादी लोग कहते हैं कि हमने पौरुष किया, उससे हमारा हृदय शुद्ध हुआ और उसमें आनन्दका आविर्भाव हुआ। किन्तु भक्त कहते हैं कि भगवान्‌की कृपा हुई, करुणा हुई और उन्होंने अपने आनन्दरूपको हमारे हृदयमें प्रकट किया। असलमें जीवके पौरुषकी प्रधानतासे धर्म, योग तत्त्वज्ञान तो हो सकते हैं, परन्तु भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे ही हृदयमें आती है।

अब देखो, एक भक्ति तो आयी साधनहीनके हृदयमें और एक भक्ति आयी बड़े-बड़े योग्य पुरुषों—योगियों, ज्ञानियोंके हृदयमें। ज्ञानी भक्त होते हैं, गीतामें यह बात बहुत स्पष्ट है। ज्ञानीके हृदयमें भक्ति आती है, ज्ञानीके हृदयमें जीवन्मुक्ति आती है और ज्ञानी भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय है। यह सब तो ठीक है, परन्तु जो ज्ञानी नहीं है, दीन-हीन है, मलिन है, उसका क्या होगा? उसका यह होगा कि भगवान् उसको अपने पास बुलानेके लिए अक्ल दे देते हैं। इस बातपर ध्यान दो कि अक्ल भगवान् ही देते हैं—**ददामि बुद्धियोगं तम्।** अब उस अक्लसे क्या होता है कि वे भगवान्‌के पास पहुँच जाते हैं अथवा स्वयं भगवान् स्वप्रदत्त बुद्धिके द्वारा उसको अपने पास बुला लेते हैं। जहाँतक भजनकी बात है वह दुराचारी भी करता है, सदाचारी भी करता है।

एक बार प्रयागराजमें श्रीईश्वरशरणजीने कहा कि जबतक दिल साफ नहीं होगा तबतक राम-राम करनेसे क्या फायदा है? इसपर डॉ० पन्नालालजीने पूछा कि आखिर दिल साफ कैसे होगा? क्या किसी हँसिया-हथौड़ेसे होगा? अरे भाई, राम-राम करेंगे, तब दिल साफ होगा और ज्यों-ज्यों दिल साफ होगा, त्यों-त्यों राम-रामका मजा आवेगा। दिल साफ करनेके लिए किसी धोबीके पास जाकर यह कहनेकी जरूरत नहीं है कि तुम हमारा दिल धोओ, उसके बाद हम राम-राम करेंगे। राम-राम स्वयं ऐसा धोबी है कि जब वह दिलमें आता है तो दिलको साफ कर लेता है और वहाँ विराजमान हो जाता है।

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥

भगवान् अपने आप हृदयमें आते हैं और हृदय-सरोवरके सलिलको निर्मल कर देते हैं। गीतामें स्वयं उन्होंने ही उद्घोषणा की है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छन्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

इसकी चर्चा पहले भी आचुकी है; लेकिन प्रसङ्गवश फिर इसका उल्लेख करना पड़ता है। भगवान्ने यह ठेका ले लिया है कि हमारे भक्तका नाश नहीं होता और उनका यही आश्वासन लेकर यह गीतामाता आयी हैं। यह ऐसा वेद है जिसके लिए ब्रह्माकी आवश्यकता नहीं। वेदकी उत्पत्तिमें ब्रह्मा हेतु हैं। ब्रह्माके चारों मुखसे वेदका प्रथम उच्चारण होता है। किन्तु गीता बिना ब्रह्माका वेद और बिना वेणुका संगीत है। भगवान् व्रजमें गाते हैं तो बीचमें वह बाँसकी बँसुरिया रहती है, किन्तु उन्होंने गीता गाते समय उस बाँसुरियाको भी बीचमें नहीं रखा। सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिए भगवान्की करुणा, भगवान्का हृदय गीताके रूपमें प्रकट हुआ है।

तो आनन्दभावकी अभिव्यक्ति भक्ति है, चिद्भावकी अभिव्यक्ति ज्ञान है और सद्भावकी अभिव्यक्ति धर्म है। जब भगवान्की कृपा आती है तब अपने-आप भक्ति भी आजाती है, ज्ञान भी आजाता है और मनुष्य धर्मात्मा भी हो जाता है। गीतामें भक्तिका साधारण-से-साधारण रूप भी है और गम्भीर-से-गम्भीर रूप भी है।

संसारमें दो तरहकी प्रवृत्तिके लोग होते हैं। एकाकी प्रवृत्ति यह होती है कि जो कठिन-से-कठिन काम होगा वह हम करेंगे। हम आसान काम, मामूली काम करनेवाले नहीं हैं। यदि ज्ञानका मार्ग कठिन है तो पहले हम ज्ञान ही प्राप्त करेंगे।

यदि वह उत्तम अधिकारीके लिए है तो क्या हम किसीसे कम अधिकारी हैं? हमको तो उत्तम अधिकारवाली वस्तु चाहिए। किन्तु दूसरी प्रकृतिके लोग कहते हैं कि बाबा, हमको तो कठिन काम नहीं चाहिए, बहुत आसान काम चाहिए, सरल काम चाहिए।

भक्ति ऐसी चीज है जो सरल भी है और कठिन भी है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि *'रघुपति भगति करत कठिनई'*—भगवान्‌की भक्ति करना बहुत कठिन है। इसपर कठिन काम करनेवालोंने कहा कि तब हम जरूर करेंगे। लेकिन आसान काम चाहनेवालोंको कहा गया कि—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न जप तप मख उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ त कहउ कहा विस्वासा॥

अरे, यह तो बिलकुल घरकी है जैसे साग-भाजी-मूली होती है। इसके लिए न योग करना है, न जप करना है, न तप करना है, न यज्ञ करना है, न उपवास करना है। यह तो बड़ी सरल है।

इसका अर्थ है कि भक्ति पौरुषहीनके लिए भी है और पुरुषार्थीके लिए भी है। किसीके लिए भी इसका मार्ग बन्द नहीं होता। यह मनुष्यमात्रके लिए ही नहीं, पशु-पक्षीके लिए भी है। भगवान्‌की भक्ति पशु भी करते हैं, पक्षी भी करते हैं। भागवतमें तो वर्णन आया है कि भगवान्‌की भक्ति लता और वृक्ष भी करते हैं, दूर्वा भी करती है, पृथिवी भी करती है, जल भी करता है।

भागवतमें ही आया है कि गाँवकी भौलनें भी भगवान्‌की भक्त हैं। आपको सृष्टिमें ऐसा कौन-सा साधन मिलेगा जो कुब्जाके घर भगवान्‌को ले जाये? आप कुब्जाकी साधना बताओ? जाति? नाईन, सैरन्ध्री। काम? शरीरमें उबटन लगाना, कंसकी दासी। वह अंगरागकी सामग्री लेकर कंसकी सेवामें जा रही थी और बीचमें कूद पड़े श्रीकृष्ण। क्या यह गिरे हुओंके उद्धारके लिए, मंगलके लिए, कल्याणके लिए कूद पड़नेका नमूना नहीं है! कुब्जासे गया बीता कौन है? लेकिन भगवान् उसका भी कल्याण करते हैं।

जहाँ सारा बल, सारा पौरुष भगवान्‌का है, सारा आग्रह भगवान्‌का है, सारी

कृपा भगवान्‌की है, वहाँ जीवके लिए पौरुष क्या है ? लेकिन ऐसा मत समझना कि भक्ति सरल है, इसलिए चाहे जब कर लेंगे। गीतामें ही देखो, कितनी कक्षा पार करनेके बाद भक्ति आती है। बहुत सारी कक्षायें पार करनी पड़ती हैं भक्तिके लिए—'**बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च**'। पहले बुद्धि शुद्ध करो और फिर अपनी धारणा-शक्तिके द्वारा अपने आपको नियन्त्रित करो और 'शब्दादीन् विषयाँस्त्यक्तवा राग-द्वेषो व्युदस्यच' शब्द-स्पर्श आदि संसारके विषयोंका त्याग करो और राग-द्वेषको निकाल फेंको। इतना ही नहीं—'विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः'—एकान्तमें रहो, विविक्त अर्थात् विवेकसिद्ध पदार्थका सेवन करो। जो तुम्हारी नासमझीसे तुम्हारे अविवेकसे जीवनमें घुस आया है, उसका सेवन मत करो। सोच-विचारकर चलो। 'लध्वासी'—हल्का भोजन करो। 'यतवाक्कायमानसः'—जो मनमें आवे सो मत बोलो और चाहे जहाँ मनको मत भेजो। 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' ध्यान करो। 'वैराग्यं समुपाश्रितः'—वैराग्यका आश्रय लो। 'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् विमुच्य'—अहंकारादिको छोड़ो। 'निर्ममः शान्तः'—निर्मम बनो, शान्त बनो। 'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—बिलकुल ब्रह्म जैसे हो जाओ। 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति'—हर समय तुम्हारा अन्तःकरण निर्मल रहे, प्रसन्न रहे, न कोई शोक हो, न कोई आकांक्षा हो। 'समः सर्वेषु भूतेषु'—सबके प्रति समता आजाये। इतना होनेके बाद ही 'मद्भक्तिं लभते पराम्'—पराभक्तिकी प्राप्ति होगी।

कई लोग जो कठिनाइयोंसे घबराते हैं, ऐसी भक्तिकी बात सुनकर डर जायेंगे और कहेंगे कि हमसे न तो ऐसा होगा और न हमको भक्ति मिलेगी। पर जो बहादुर हैं वे बोलेंगे कि बस बस, ऐसी भक्ति हमारे प्राप्त करने योग्य है। जो लोग बाजार जाते हैं, उनमें कई ऐसे होते हैं कि हम सस्ती-से-सस्ती चीज खरीदें और कई ऐसे होते हैं कि जिसकी कीमत सबसे ज्यादा हो, वही खरीदेंगे। भगवान्‌ने दोनों तरहके ग्राहकोंको अपने पास बुलाया है और कहा है कि आओ हमारे यहाँ तुम दोनोंके लिए सौदा है। वे नियम-धर्मका पालन न कर सकनेवालोंसे कहते हैं कि यदि तुमने स्नान नहीं किया है तो कोई बात नहीं, भोजन कर लिया है तो कोई बात नहीं, तुम्हारे आचारमें दोष है तो कोई बात नहीं, मेरा नाम लेना शुरू करो, मेरी भक्ति करना प्रारम्भ करो।

असलमें साधन ऐसा होना चाहिए जो विद्वद्-भोग्य भी हो, बड़े-बड़े साधकोंके लिए भी हो और ब्रह्मज्ञानियोंके लिए भी हो। किन्तु जो दीन-हीन और

पिछड़े हुए हैं उनके लिए भी उन्नति—प्रगतिकारक तथा उद्धारक हो। ऐसी वस्तु भक्ति है। वह दोनोंको लेकर चलती है, यही भक्तिकी विशेषता है। इसीका नाम भगवद्वाणी है। गीताको गीता इसीलिए कहते हैं कि वह सब प्रकारके अधिकारियोंके लिए कल्याणकारिणी है।

अब प्रश्न उठता है कि भक्ति कहाँसे और कैसी करें? उत्तर है कि तुम जहाँ हो, वहींसे भक्ति शुरू करो। एक बात आप ध्यानमें रख लो। जहाँ ईश्वर है, वहाँ से साधना प्रारम्भ नहीं होती, जहाँ पहुँचना है वहाँसे यात्रा प्रारम्भ नहीं होती। रास्ता वहाँसे शुरू होता है जहाँ हम हैं। आपको पूर्व जाना है तो कहाँसे शुरू होगा पूर्व? जहाँ आप हैं, वहींसे पूर्व शुरू होगा। आपको पश्चिम जाना है तो जहाँ आप हैं वहींसे पश्चिम प्रारम्भ होगा।

अब बोले कि भाई, यह तो ठीक है, परन्तु भक्तिकी प्राप्तिके लिए हम कौन-सा यज्ञ करें, कौन-सा योगाभ्यास करें, कौन-सा स्वाध्याय करें और कौन-सा श्रवण-मनन-निदिध्यासन करें? इसका उत्तर है कि ये सब चीज़ें अभी तुमसे दूर हैं—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

भक्त कहता है कि हममें धर्मनिष्ठा बिलकुल नहीं है। न जाने कितनी बार हम झूठ बोलते हैं, दूसरोंके मालकी बेईमानी करते हैं। कितनी बार हमसे हिंसा होती है, ब्रह्मचर्यका भङ्ग होता है। हममें ढूँढ़नेपर भी पूरी-पूरी धर्मनिष्ठा मिलनी मुश्किल है। आत्मज्ञान है? जब वैराग्य ही नहीं है तो आत्मज्ञान कहाँसे आवेगा? भगवान्‌के चरणारविन्दमें भक्ति है? नहीं बाबा, हममें नाना आसक्तियाँ भरी हैं—पुत्रकी, मित्रकी, धनकी और न जाने किस-किसकी? तब तुम भगवान्‌के मार्गमें कैसे चलोगे? भक्त बोला कि देखो, एक विशेषता है हममें। हमारे पास हमारा कुछ है नहीं। देखो, यहाँ शरणागतिका अधिकार! शमदमादि साधन सम्पत्ति होनेपर ही ज्ञानके मार्गमें चलना होता है। इस साधन-चतुष्टयको साधन-सम्पदा बोलते हैं। उपनिषद्‌में आया है कि '**श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्**'—(माध्यन्दिन बृहदारण्यक ७.२.२८) आत्मज्ञानके लिए श्रद्धाका धन चाहिए। किन्तु हम तो दोनों हाथ उठाकर कहते हैं कि हमारे पास कुछ नहीं है। अरे भाई, कोई पोटली-वोटली है? कोई तिजोरी है? कोई बैंक बैलेंस है? नहीं-नहीं, कुछ भी नहीं है, हम तो अकिञ्चन हैं। अच्छा, तुम्हारे साथ कोई मुनीम होगा वह रुपया लेकर चलता होगा

या कोई सेठ-साहूकार होगा जो तुम्हारी मदद करता होगा? भक्त बोला कि नहीं-नहीं, यह सब कुछ नहीं, हम तो 'अनन्यगति' हैं, कोई दूसरी गति है ही नहीं।

अब देखो, यहाँ शरणागतिका अधिकार उपस्थित हो गया। शरणागतिमें दो अधिकार माने गये हैं—अकिञ्चनत्व और अनन्यगतित्व। भगवान् आश्रित-सौकर्य-पालन हैं, जो भगवान्‌की ओर चलना चाहे उसके लिए नाव लेकर खड़े रहते हैं—'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्'। भगवान् कहते हैं कि यदि तुम्हारे पास कुछ नहीं है, किसीका भरोसा नहीं है, तुम्हें तैरना नहीं आता, तुममें गायकी पूँछ पकड़कर वैतरणी पार करनेकी सामर्थ्य नहीं है तो आओ हमारी गोदमें बैठ जाओ, हम तुम्हारा उद्धार करेंगे। यह है भगवान्‌का 'आश्रय-सौकर्य-पालन' और 'आश्रितकार्य निर्वाह'। वे स्वयं अपने आश्रितके काम बना देते हैं।

देखो, भगवान् जिसको जन्म देते हैं, उसको अपनी प्राप्तिके लिए साधन भी दे देते हैं। जब जीव भगवान्‌के पाससे चलने लगता है तब हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है कि प्रभो! हम संसारमें जायेंगे तो आपको भूल जायेंगे। इसपर भगवान् कहते हैं कि हम तुम्हारे अन्तःकरणमें एक चुटकी चूर्ण डाल देते हैं। इसका प्रभाव यह होगा कि जबतक तुम हमारे पास लौटकर नहीं आओगे तबतक दुःख तुम्हारा पीछा करेगा। जब तुम लौटना चाहोगे तब अपने पास पहुँचनेके लिए जो उपकरण चाहिए वह मैं तुमको दे देता हूँ। ऐसा कौन-सा उपकरण है भगवन्? आपके पास पाँवसे चलकर तो आना सम्भव नहीं होगा। हाथ भी क्या काम करेंगे? भगवान् बोले कि—'अरे जीभ है तुम्हारे पास?' यह जीभ भी हमारे पास पहुँचनेका साधन है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

जीभसे नाम-सङ्कीर्तन करो। हाथमें केवल करनेकी शक्ति है, पाँवमें केवल चलनेकी शक्ति है, आँखमें केवल देखनेकी शक्ति है, लेकिन जीभमें बोलने और स्वाद लेने दोनोंकी शक्ति है। यह अन्य सब इन्द्रियोंसे विलक्षण है, एकमें दो इन्द्रिय हैं। इसी जीभसे मधुरवाणी द्वारा भगवान्‌के नामका, गुणका, लीलाका संङ्कीर्तन करो—'सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्ना'—फिर देखो भक्ति कितनी आसान है। किन्तु यदि जीभ न हो तो, गूँगे हों तो क्या करें? बोले कि 'नमस्यन्तश्च माम्'—बार-बार सिरको झुकाओ, प्रणाम करो। बड़ी आसान है भक्ति, जो सिर झुकानेसे हो जाती है, मुँहसे बोलनेसे हो जाती है, हाथ जोड़नेसे हो जाती है।

देखो, यहींसे भक्ति शुरू होती है। जहाँ हम हैं वहींसे साधन प्रारम्भ होता है। जो साधन हमारे पास नहीं है, वह साधन हमारे करनेका नहीं है। हमारे पास जीभ है तो जीभसे साधन करेंगे। हमारे पास आँखें हैं तो आँखोंसे देखेंगे, हमारे पास कान हैं तो कानोंसे सुनेंगे। भगवान् इन सब रास्तोंसे हृदयमें आयेंगे। यह भक्तिकी विशेषता है। भक्ति माने व्यक्तिके अन्दर भगवान्‌की अभिव्यक्ति देनेकी शक्ति, भक्ति जीवनमें भगवान्‌को जाहिर करनेकी ताकत—'भगवतः अभिव्यञ्जिका शक्तिः।' भक्तिकी यह महिमा है कि जब वह हमारे हृदयमें आती है तो अकेली नहीं आती, भजनीयको लेकर आती है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्‌गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

श्रीमद्भा० ५.१८.१२

जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आजाती है, उसकी पहचान क्या है? ईश्वर पर आस्था होना, एक अचिन्त्य, अनन्त, दिव्य, अदृश्य-शक्तिके प्रति श्रद्धा-विश्वास होना, उसका ज्ञान होना, उसका स्मरण होना और उसके प्रति प्रेम होना। ऐसी भक्तिके आते ही सब देवता अपने-अपने श्रेष्ठ गुणोंको लेकर उस भक्तके पास आजाते हैं। उससे भेंट करने भी आते हैं और उसको भेंट देने भी आते हैं। 'सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः'का अर्थ यह भी है कि कान अच्छी-अच्छी बातें सुनने लगते हैं, बुरी बातें नहीं सुनते, आँखें अच्छी-अच्छी चीजें देखने लगती हैं, नासिका अच्छे गन्धको सूँघती है, जीभ अच्छी वाणी बोलती है, पाँव अच्छी जगह जाता है, हाथ अच्छा काम करता है। हमारे शरीरमें जो इन्द्रियरूप देवता हैं वे सब अपने-अपने सद्‌गुण धारण करके प्रकट हो जाते हैं, हमारा जीवन सद्‌गुण-सम्पन्न हो जाता है। **'हरावभक्तस्य कुता महद्‌गुणा मनोरथे नासिति धावतो बहिः'**—जिनके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति नहीं है, उनके जीवनमें महद्‌गुण कहाँसे आयेंगे? वे तो पार्टी-बन्दी करेंगे जबकि भगवान्‌में पार्टीबन्दी नहीं है। वह दलका दलदल नहीं है। भगवान् तो सबके आत्मा हैं, सर्वात्मा हैं। ऐसी भक्तिका वर्णन भागवतमें है, गीतामें भी है। **'अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा'**—भगवान् कहते हैं कि मैं सबके शरीरमें प्रत्येक व्यक्तिकी आत्मा बनकर बैठा हुआ हूँ।

'अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे' (श्रीमद्भा० ३.२९.२४)—भगवान् हजार मनका भोग लगानेसे सन्तुष्ट नहीं होते। वे इससे सन्तुष्ट होते हैं कि किसीसे द्वेष मत करो। यह मत कहो कि जो हमारे मजहबमें, हमारी जातिमें, हमारी पार्टीमें,

हमारे दलमें है वह दूधका धुला है और दूसरे सब बुरे हैं। यह बात भक्तिमें नहीं होती। भगवान् सबके हृदयमें हैं, सबमें हैं। यही भगवान्‌का रूप है। इसलिए 'अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा।' सबके प्रति मित्रताका भाव होना चाहिए। सबको कुछ-न-कुछ दो, जो बने सो दो, नहीं तो सम्मान करो, मैत्रीका भाव रखो। जैसे हमारी आत्मा है वैसे ही दूसरोंकी भी आत्मा है—यह ध्यान रखो।

अब आप भगवान्‌की यह बात देखिये—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन!' यह अपूर्व है, स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है। इसमें भगवान् कहते हैं कि 'अर्जुन, मैं अमृत हूँ और मृत्यु भी मैं ही हूँ।' अमृतमें भी भगवान्, मृत्युमें भी भगवान्। मृत्युसे तो नव-नवायमान अमृतकी उपलब्धि होती है, परन्तु उसके बाद जो है वह आपको कहीं जल्दी नहीं मिलेगा। कितना आश्चर्यजनक है भगवान्‌का यह कथन कि 'सदसच्चाहमर्जुन'—सत् भी मैं हूँ और असत् भी मैं ही हूँ। सत् भी भगवान् असत् भी भगवान्। इसलिए तुम अपने हृदयको भगवान्‌से भर लो। 'सदसत् तत् परं यत्'—सत् असत्‌से परे भी वही और 'न सत् तन्नासदुच्यते'—उसको न सत् कह सकते हैं, न असत् कह सकते हैं। ऐसा भगवान् आपको कहाँ मिलेगा, जिसको आप सत्, असत् दोनोंमें देख सकें। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—'सर्व सर्वगत सर्व उरालय'—भगवान् सब हैं, सबमें हैं और सबके हृदयोंमें रहते हैं। ऐसे भगवान्‌की भक्ति जब हृदयमें आती है तो स्पर्द्धा, असूया, तिरस्कार और अभिमान ये चार दोष तुरन्त निवृत्त हो जाते हैं।

जहाँ भगवद्दर्शन होने लगा, वहाँ किसीसे यह होड़ नहीं लगेगी कि यह हमसे आगे कैसे बढ़ेगा? होड़को ही स्पर्धा कहते हैं। असूया कहते हैं, दूसरेके गुणमें दोष देखनेकी प्रवृत्तिको—'परगुणेषु दोषाविष्करणम्'—यह अपराध है। तिरस्कार वह है जिसकी भावना आनेपर हम कहते हैं कि हट-हट तू नीच है। एक बार स्वयं शङ्कराचार्यने एक चाण्डालको कह दिया था कि 'दूरं गच्छ'—दूर हटो। इसपर उस चाण्डालके भीतरसे शङ्करजी बोल पड़े—'दूर हटो' किसके लिए बोल रहे हो? देहको दूर हटाना चाहते हो या देहीको दूर हटाना चाहते हो? देह तो हमारा और तुम्हारा अन्नमय कोश है, एक ही है, मिट्टी, पानी आगसे बना हुआ है। किन्तु देहीमें तो भेद ही नहीं है। फिर तुम किसको हटाना चाहते हो? अब श्रीशङ्कराचार्यजीकी आँख खुली, उन्होंने देखा और बोले कि 'बस-बस महाराज, मैं आपको पहचान गया।' तो भक्ति वह चीज है, जो स्पर्द्धाको असूयाको तिरस्कारको और अहंकार अर्थात् अपने बड़प्पनके अभिमानको मिटा देती है!

अब आप यह देखिये कि ज्ञान किसको कहते हैं? यह बात पहले बतायी जा चुकी है कि 'ज्ञानस्य या पराकाष्ठा सैव भक्तिः प्रकीर्तिता'—ज्ञानकी जो पराकाष्ठा है, उसका नाम भक्ति है। असलमें दोनोंका लक्ष्य एक ही है, चाहे प्रीति विशिष्ट वृत्तिके द्वारा उसका अनुसन्धान करो, चाहे प्रमाण-विशिष्ट वृत्तिके द्वारा उसका अनुसन्धान करो। ज्ञान होता है प्रमाण-वृत्ति विशिष्ट और प्रमा होती है यथार्थ-अनुभव-वृत्ति-विशिष्ट। ज्ञान प्रमाणकी प्रधानतासे होता है और अपने भजनीयकी प्राप्ति प्रीतिविशिष्ट वृत्तिके द्वारा होती है। प्रेम लबालब भरी हुई वृत्तिसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

अब आओ, गीतामें इसका अनुसन्धान करें। जैसा कि कहा जा चुका है गीता छोटेके लिए भी है, बड़ेके लिए भी है, सबके लिए है। इसमें एक ऐसा प्रश्न है जिसकी व्याख्या करनेके लिए बड़े-बड़े विद्वानोंको थोड़ा-थोड़ा हेर-फेर करना पड़ा, क्योंकि जितने भी मजहब हैं वे कहते हैं कि जो हमारे शास्त्रको नहीं मानेगा वह हमारे मजहबका नहीं है। आपने सुना ही होगा कि जो बाइबिलको न माने वह ईसाई कैसा? ईसाई मजहबमें उसके लिए कोई माँग नहीं है। आपने यह भी सुना होगा कि जो कुरानको न माने वह मुस्लिम कैसा? उसके लिए मुस्लिम मजहबमें खुदाका रास्ता बन्द है; वह तो काफिर है और दोजखमें जायेगा। वैदिक लोग भी यह कहते हैं कि जो वेदको नहीं मानता, उसको क्या पूछना? वह सर्वधर्म-बहिष्कृत है।

किन्तु गीताने इस बातपर दृष्टि डाली है और टीकाकारोंको उसमें बुद्धि लगानी पड़ी है। आप गीता पढ़ते होंगे और न पढ़ते हों तो जरूर पढ़ें।अधिक न पढ़ें तो आप एक नियम यह ले लें कि केवल दो श्लोक रोज पढ़ेंगे। इस तरह एक वर्षमें गीता पूरी हो जायेगी। आप गीतामें यह श्लोक देखिये—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहोरजस्तमः॥

अद्भुत प्रश्न है। इसका जैसा उत्तर गीतामें दिया गया है, वैसा दुनियाके किसी भी मजहबमें—किसी भी पन्थमें नहीं मिलेगा। इसमें अर्जुन पूछते हैं कि जो शास्त्रविधिका परित्याग कर देते हैं, उनका क्या हाल होगा? उनकी अन्तिम गति क्या होगी? 'उत्सृज्य'का अर्थ मैं क्या सुनाऊँ, वह आचार्योंके विरुद्ध पड़ता है। किन्तु उत्सृज्यका अर्थ होता है जान-बूझकर फेंक देना। अब आप देखें कि कोई किताबी मजहब किताब छोड़नेको कितना बड़ा अपराध मानता है। किताब

छोड़नेवालोंमें भले ही श्रद्धा हो, लेकिन वह श्रद्धाको बड़ा सद्‌गुण नहीं मानेगा। किन्तु गीताका कहना है कि भले ही किसीने किताब छोड़ दिया, किन्तु उसके हृदयमें तो श्रद्धा है—'यजन्ते श्रद्धायान्विताः।' हम उस दिलको देखते हैं, उस हृदयको देखते हैं जिसमें श्रद्धाका निवास है।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेतितां शृणु॥

स्वाभाविक श्रद्धा भी सात्त्विक होती है और वह जिसके हृदयमें है, उसकी ऊर्ध्व गति होती है—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः। भगवान् किताब नहीं देखते, लाल-पीला कपड़ा नहीं देखते, चन्दन माला नहीं देखते, भगवान् देखते हैं—हृदय। इस संसारमें भी सहृदय पुरुष हृदय ही देखते हैं। भगवान् तो सहृदयोंके शिरोमणि हैं और कहते हैं कि स्वाभाविक श्रद्धा, सात्त्विक श्रद्धा जिसके हृदयमें है, जो श्रद्धालु है, वह शास्त्रविधिको छोड़ भी दे तो उसकी श्रद्धा उसको ऊपर उठाकर ले जायेगी। यह श्रद्धा भक्तिकी माँ है। श्रद्धासे भक्ति प्रारम्भ होती है। '**आदौ श्रद्धा ततः सङ्गः ततोऽस्ति भजनक्रिया**'—पहले श्रद्धा होती है, उसके बाद सत्सङ्ग होता है और जब सत्सङ्ग होता है तब भजन होता है। जब भक्तिकी आदि—जननी, भक्तिकी दादी, भक्तिकी नानी श्रद्धा तुम्हारे हृदयमें है तो कभी-न-कभी उस श्रद्धाकी पौत्री भी आयेगी, दौहित्री भी आयेगी।

तो शास्त्रहीन व्यक्तिके लिए भी कल्याणका मार्ग बतानेवाली भगवद्‌गीता है और वह कहती है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

भगवान्‌को भक्ति द्वारा 'अभिजानाति-अभितः जानाति, आभिमुख्येन जानाति।' भगवान् हजारों बार, लाखों बार, करोड़ों बार देखे हुए हैं। वे सबके हृदयोंमें बैठे हुए हैं, सबके रूपमें प्रकट हैं, परन्तु अभिमानका लोप हो गया है। मुहर खो गयी है। तब हम क्या करें? गीताका कहना है भक्ति करो। जब भगवान्‌में भक्ति होगी तो अभिज्ञान, ज्ञान तो अपने आप ही आजायेगा। जब तुम श्रद्धापूर्वक, रुचिपूर्वक, प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का अनुस्मरण करोगे तो क्या भगवान् तुम्हारे हृदयमें नहीं प्रकट होंगे?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ४ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

अब आप गीताकी एक विशेषतापर ध्यान दीजिये। धर्मात्माओंने धर्मको यज्ञशालामें, भक्तोंने भक्तिको मन्दिरमें, योगियोंने योगको गुफामें और ज्ञानियोंने ज्ञानको झोपड़ीमें ले जाकर रख दिया। परन्तु गीताकी विशेषता यह है कि उसने धर्मको हमारी दुकानमें, हमारे घरमें, हमारी सड़कमें, हमारे रोजमर्राके काम-काजमें लाकर रख दिया। भक्तिको गीताने मन्दिरमें ही नहीं छोड़ा, युद्ध-भूमिमें भी लाकर खड़ा कर दिया। गीता कहती है कि 'मामनुस्मर युद्ध्य च' मेरा अनुस्मरण करते हुए युद्ध करो। इसी तरह गीता 'समत्वं योग उच्यते, सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, योगः कर्मसु कौशलम्' आदि वचनों द्वारा योगको कर्म-क्षेत्रमें पहुँचा देती है और कहती है कि कर्म करनेकी कुशलता इसीमें है कि सफलता-विफलतापर ध्यान न देकर अपने कर्त्तव्यका पालन करते जाना चाहिए।

ज्ञानको गीताने ऐसी जगहपर रखा है कि यदि युद्ध कर्तव्य हो तो युद्ध करो और युद्धमें मारना पड़े तो मार भी डालो। हमारा ज्ञान ऐसा है कि—हिंसा-अहिंसा दोनोंसे ऊपर है। अहिंसामें तो रहता ही है, अहिंसा और उपशान्ति तो परम धर्म है ही, लेकिन यदि कभी काम पड़ जाये तो जैसे शङ्करजी त्रिलोकीका, लोकत्रयका संहार कर देते हैं, वैसे ही यदि संहार भी करना पड़े तो ज्ञानकी कोई हानि नहीं होती। गीताके इस वचनपर ध्यान दीजिये—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

इसमें श्रीकृष्ण यह नहीं कहते कि तीनों लोकोंको मार डालो, अपितु यह कहते हैं कि किसीकी हिंसा न हो तब तो कहना ही क्या, परन्तु कदाचित् शङ्करजीके तीसरे नेत्रके समान संहार-शक्तिका भी प्रयोग करना पड़े तो लोकत्रयका संहार करके भी 'न हन्ति न निबध्यते' न वह मारनेवाला है और न मरनेवाला है।

इस तरह गीता ज्ञानको ले आयी युद्धभूमिमें, भक्तिको ले आयी युद्धभूमिमें। युद्धभूमि माने कर्मक्षेत्र, जहाँ हम लोग रहते हैं। जो साधन जो भावनाएँ हमसे दूर पड़ गयी थीं, उनको हमारे जीवनमें लाकर बैठा देना—यह गीताकी विशेषता है। समाधिमें भगवान्‌को देखो—यह गीताका उपदेश नहीं है। गीताका उपदेश तो यह है—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।' अन्तमें कह दिया कि 'सर्वथा

वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।' (६.३१) योगी समाधिस्थ नहीं है, गुहामें स्थित नहीं है, बल्कि अपने कर्त्तव्यका ठीक-ठीक पालन कर रहा है और वह मुझमें ही सब काम कर रहा है।

गीताकी यही अपूर्वता है कि जो बात और कहीं नहीं कही गयी, वह **भगवान् श्रीकृष्णने युद्धभूमिमें** कह दी है—वह भी उस स्थितिमें जब कि घोड़ोंकी **बागडोर** हाथमें पकड़े हुए हैं, रोते हुए अर्जुन सामने हैं और दोनों ओरसे हथियार चलनेवाले हैं। इस प्रकार हमारे जीवनका सम्पूर्ण निर्माण करनेके लिए ही इस भगवती गीताका आविर्भाव हुआ है। इसीलिए भक्त कहता है कि—'**अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्**' ओ मेरी माँ, अम्ब, वर्णमयी, शब्दमयी, वाक्यमयी गीता माँ, आओ मैं तुम्हारा अनुसन्धान और ध्यान करता हूँ।

अब आपको संक्षेपमें एक बात और सुनाता हूँ। गीताका ज्ञान नहीं है कि उससे जीवनमें दुःख आवे ही नहीं अथवा दुःखका भान ही न हो। गीता कोई नशा नहीं है कि इसको पी लोगे तो तुमको दुःख मालूम नहीं पड़ेगा। गीताका कहना तो यह है कि जीवनमें दुःख आते ही रहते हैं, परन्तु उन आते हुए, बहते हुए, मालूम पड़ते हुए, दुःखोंसे उद्विग्न और व्याकुल नहीं होना चाहिए।

मैं आपको पहले भी सुना चुका हूँ कि गीता श्रीकृष्णके अनुभवकी पोथी है। ऐसा कौन-सा दुःख है जिसको उन्होंने अपने जीवनमें नहीं देखा। जेलखानेमें उनका जन्म हुआ, जन्म होते ही उन्हें छिपाकर पराये घरमें ले जाया गया और वहीं रख दिया गया। राजघरानेके लड़केको गायें चराकर रहना पड़ा, माखन चोरी करके खाना पड़ा। कोई जहर पिलाने आता है, कोई छकड़ासे दबाने आता है और कोई बवण्डरमें उड़ाने आता है। कहीं उसके ऊपर पेड़ गिर पड़ता है, कहीं बछड़ेमें-से राक्षस निकल आता है और कहीं उसको अपने हाथपर पहाड़ उठाना पड़ता है। उसे अपने मामाको अपने हाथों मारना पड़ा। उसके माँ-बाप जेलखानेमें रहे। जब दुश्मनने चढ़ाई की तो कई बार जीत गये, परन्तु बादमें गाँव छोड़कर भागना पड़ा। कहाँ मथुरा और कहाँ गिरिनार स्थित मुचकुन्दकी गुफा! लेकिन भागते-भागते वहाँ पहुँच गये। जरासन्धके पीछा करनेपर जब द्वारकाकी ओर भागे तो पाँवमें पादुका भी नहीं थी, सिरपर पगड़ी भी नहीं थी। एक पीताम्बर पहने हुए नङ्गे पाँव भागना पड़ा और भाग-भागकर साधुओंके आश्रममें प्रसाद खाना पड़ा। कई दिनोंतक पहाड़में छिपकर रहे, लेकिन दुश्मनोंने वहाँ आग लगा दी तो कूदकर जान बचानी पड़ी। निवासके लिए उन्हें समुद्रके बीचमें बस्ती बनानी पड़ी, वहाँ भी क्या-क्या नहीं हुआ? वहाँ उनका बच्चा

प्रद्युम्न दस दिनका भी नहीं होने पाया था कि शम्बरासुरने उसका अपहरण कर लिया। ससुर सत्राजितके घरपर मणिके लिए डाका पड़ा और वे मारे गये। जो उनके बड़े भारी भक्त थे, वे मणि लेकर दूसरे शहरमें चले गये। बड़े भाई बलरामजीका मणिके बारेमें श्रीकृष्णपर अविश्वास हो गया। पत्नियाँ चाहती थीं कि केवल हमारे ही घरमें रहें, दूसरोंके घरमें न रहें, छीना-झपटी होती थी। बाल- बच्चोंका यह हाल कि एक भी बेटा बापका, श्रीकृष्णका आज्ञाकारी नहीं निकला, एक भी पौत्र आज्ञाकारी नहीं निकला। श्रीकृष्ण स्वयं तो साधु-महात्माओंपर श्रद्धा करतेथे, किन्तु उनके बच्चे हँसी उड़ाते थे। खान-पानमें भी श्रीकृष्णका कोई अनुयायी नहीं निकला। लेकिन इन प्रतिकूलताओंका श्रीकृष्णपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे मुस्कुराते हुए आये और मुस्कुराते हुए अन्तर्धान हो गये। उनका जीवन आदिसे अन्ततक संघर्षोंकी लम्बी कहानी है, उसमें उनके अनुभवोंका विशाल भण्डार है और वे ही अनुभव गीताके रूपमें प्रकट हुए हैं।

अब देखो ज्ञान क्या है? क्या वेदान्तकी बड़ी-बड़ी पोथियाँ पढ़ लेना अद्वैतसिद्धि, खण्डनखण्डखाद्य आदि ग्रन्थोंका स्वाध्याय कर लेना, घटाकाश, मठाकाशकी एकता कर लेना और अन्त:करणोपाधिक तथा मायोपाधिक चैतन्यकी एकताकी चर्चा कर लेना ही ज्ञान है? ज्ञान तो ऐसा होना चाहिए जो हमारे रोज-रोजके जीवनमें आचरण करने योग्य हो। यही बात हमें गीता बताती है।

अब आइये; आप गीताके सिद्धान्तपर! भक्ति और ज्ञानका समन्वय तभी होगा जब हम इन दोनों विषयोंको अलग-अलग अच्छी तरह समझ लेंगे। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि भक्ति और ज्ञान दोनों विषयोंमें वेद-शास्त्रको प्रमाण माना जाता है, सन्तकी आज्ञाके अनुसार चलना पड़ता है और सदाचारका पालन करना पड़ता है। आप भक्त बनें या ज्ञानी, सदाचारका पालन किये बिना किसीमें भी प्रगति नहीं कर सकते। चाहे भक्तिके रूपमें 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च' को लीजिये और चाहे ज्ञानके रूपमें 'अमानित्वं अदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्' को लीजिये, दोनोंमें सदाचार और सद्‌भावकी आवश्यकता होती है। सदाचार और सद्भावके बिना न भक्ति बढ़ेगी और न ज्ञान बढ़ेगा।

जितने भी साधन होते हैं वे चेतनाको जाग्रत् करनेके लिए होते हैं। उन साधनोंका यही लक्ष्य होता है कि हमारे शरीरमें जो चेतना है, वह चाहे जाग जाये, चाहे जागकर निष्पाप हो जाये, चाहे भगवान्‌से मिल जाये और शान्त हो जाये। चेतना धर्मसे निष्पाप होती है, भक्तिसे भगवान्‌में मिलती है, योगसे अपने स्वरूपमें

स्थित होती है और ज्ञानसे अपनी पूर्णताका अनुभव करती है। यदि कोई आलस्य, प्रमाद और निद्रामें पड़ा रहता है, अकर्मण्य या निकम्मा हो जाता है तो उसकी चेतना जागेगी नहीं, सो जायेगी और जब चेतना सो जायेगी तो वह व्यक्ति जड़तासे एक हो जायेगा। दो छोर हैं, एक ओर जड़ता है और दूसरी ओर पूर्णता है। यह देखना आपका काम है कि आप अपनी चेतनाको जड़तासे मिलाना चाहते हैं या इसको जाग्रत्, मन्त्र चैतन्य करके पूर्णतामें मिलाना चाहते हैं?

श्रीकृष्णको, उनकी गीताको यह सर्वथा नापसन्द है कि कोई भी व्यक्ति अकर्मण्य हो जाये। इसीलिए वे कहते हैं कि 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'—मेरे प्यारे मित्र अर्जुन, निकम्मा मत बनो। निकम्मापन शैतानका घर होता है। जितनी भी बुराइयाँ हैं, वे निकम्मे मनमें ही उत्पन्न होती हैं। जब कोई कर्तव्य सामने नहीं रहता, मन खाली रहता है तब उसमें बुराइयाँ पैदा होती हैं। इसलिए आप भी श्रीकृष्णकी इस बांतपर ध्यान दो कि आपके जीवनमें अकर्मण्यता न आने पाये।

अब कर्मकी बात लो। हम आपको जो कुछ सुना रहे हैं, उसको क्रमसे ही सुना रहे हैं। इसमें मनोरञ्जन या कहानी-चुटकुलेकी बात नहीं है। इसलिए आप थोड़ा ध्यान रखो।

आपने निकम्मापन तो छोड़ दिया और काम करने लगे। अब आप यह देखिये कि जो काम कर रहे हैं वह निषिद्ध है या विहित है? आपको जो नहीं करना चाहिए वह काम कर रहे हैं? निषिद्ध कर्मकी पहचान यह है कि वह वासनाके वेगमें होता है। जब काम प्रबल हो जाता है, तब व्यभिचारकी ओर प्रवृत्ति होती है। जब क्रोध प्रबल हो जाता है, तब हिंसामें प्रवृत्ति होती है। जब लोभ प्रबल हो जाता है, चोरी-बेइमानीमें प्रवृत्ति होती है। निषिद्ध कर्म करनेका अर्थ है वासनाके वेगमें बहना। यदि आपको अपनी वासनापर कोई नियन्त्रण नहीं है तो आपकी इन्द्रियाँ आपको अधोगतिके मार्गपर ले जायेंगी—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इसलिए आप कभी निकम्मे मत रहो। काम करो, लेकिन काम-क्रोध-लोभ-मोहके अधीन होकर काम मत करो, निषिद्ध कर्म मत करो। वह कर्म करो जो शास्त्रमें आपके लिए विहित है। विहित कर्म भी उद्देश्यको सामने रखकर किये जाते हैं। यदि आप स्वर्ग पानेके लिए विहित कर्म करते हैं तो वे सकाम हो गये। विहित कर्मोंके लिए शास्त्रोंमें निर्देश हैं, उन्हें करना चाहिए, परन्तु यदि

उनका उद्देश्य स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति ही है तो वे श्रीकृष्णको, उनकी गीताको नापसन्द है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥

क्योंकि विहित कर्मोंके फलस्वरूप होनेवाली स्पर्शादिकी प्राप्ति भी जन्म और मृत्युके फन्देमें फँसानेवाली चीज है। कर्म करोगे उससे स्वर्गमें जाओगे और जब वहाँ फल भोग पूरा हो जायेगा तो जैसे-पैसा खत्म होनेपर होटलसे निकाल दिये जाते हैं, वैसे ही आपके पुण्यकी पूँजी नहीं रहेगी तो आप स्वर्गसे निकाल दिये जाओगे। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति'—पुण्यका क्षय होनेपर फिर मर्त्यलोकमें आना पड़ेगा और यदि यहाँ पुनः सत्कर्म नहीं करेंगे तब तो पूछो ही मत, पहले जैसे स्वर्गमें गये थे वैसे ही अविहित कर्मोंके फलस्वरूप नरकमें जाना पड़ेगा।

'अदत्तदानश्च भवेद् दरिद्रः।'—जो दान-धर्मका अनुष्ठान नहीं करते वे दरिद्र होते हैं। दरिद्रावस्थामें दूसरोंकी सम्पदा देखकर ईर्ष्या होती है, चोरी बेइमानी करते हैं, पाप करते हैं, पापके प्रभावसे नरकमें जाते हैं, नरकसे निकलते हैं तो फिर दरिद्र होते हैं और दरिद्र होते हैं तो फिर पापी होते हैं।' इसलिए अपनेको सम्हाल करके सत्कर्ममें लगाना चाहिए, वासनाके वेगसे बचना चाहिए।

अब देखो, निकम्मापन गया, निषिद्ध कर्म गया, सकाम कर्म गया और बारी आयी सत्कर्मके अनुष्ठानकी। यहाँ प्रश्न उठता है कि सत्कर्म कैसे करें, किस उद्देश्यसे करें? सत्कर्म करनेके तीन तरीके हैं—एक तो प्रायश्चित्तके लिए, दूसरे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए और तीसरे ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए। इन उद्देश्योंको सामने रखकर आप अपने कर्त्तव्य कर्मका पालन अवश्य कीजिये।

अब यहाँ कर्त्तव्य तो रह गया और कामना चली गयी। किन्तु इसमें भी कुछ भेद होते हैं। कई लोग कर्म तो छोड़ देते हैं, किन्तु मनमें कामना रखते हैं और उसको पूरी भी करना चाहते हैं। ऐसे लोगोंके बारेमें कहा है कि वे ढोंगी हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते गनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

यदि आप कर्म छोड़ देंगे और वासना रखेंगे अथवा वासना छोड़ देंगे और कर्म रखेंगे, तो यहाँ कर्मके दो भेद हो गये। वासना और कर्म दोनों रखेंगे तो सकाम कर्म होगा तथा वासना रखेंगे और कर्म नहीं करेंगे तो ढोंग हो जायेगा। किन्तु यदि वासना मिटाकर अपने कर्त्तव्य कर्मका पालन करेंगे तो उसका नाम योग हो

जायेगा। यह विषय ऐसा है जो विस्तारकी अपेक्षा रखता है, यहाँ इतना समय नहीं, इसलिए हम संक्षेपमें इसको पूरा करके आगे बढ़ते हैं। कर्ममें कर्तापनका अभिमान कर्मको हमारे साथ जोड़ देता है। यदि अभिमान नहीं हो तो कर्म हमारे साथ जुड़ेगा नहीं। अतः भाई, करते चलो, करते चलो; पीछे लौटकर देखनेकी जरूरत नहीं है—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'** जब हम कर्ताकी ओर देखते हैं तब दो बातोंकी ओर ध्यान जाता है—एक तो कर्तृत्वाभिमानी मैं-की ओर; दूसरे ईश्वरकी ओर। यह सारी सृष्टि मैंने नहीं, ईश्वरने बनायी है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय॥

सारी सृष्टिका कर्ता ही वास्तविक कर्ता है। जिसने माटी बनायी वही कर्ता है, किन्तु जिसने माटीका खिलौना बनाया, वह क्या है? खिलौना बनानेवाला तो आकार-कर्ता है। खिलौना आकृति है और माटी मैटर है। मैटर सारा-का-सारा ईश्वरका बनाया हुआ है। उसमें आकृति बनानेका काम जीव करता है।

अब यहाँ देखो, माटी छूटनेसे कोई नहीं रोता, लेकिन खिलौना फूटनेसे बच्चे रोने लगते हैं। यह माया है। इसका अर्थ हुआ कि एक ईश्वर-सृष्टि है और एक जीव-सृष्टि है। ईश्वरने यह सारी सृष्टि बनायी है और इसमें जो मैं-मेरा है, यह जीवका बनाया हुआ है। दुःखका निवास ईश्वरकी बनायी चीजमें नहीं है। जो सृष्टि प्रकृति बनाती है अथवा ईश्वर बनाता है उसमें दुःख नहीं है। उसके साथ जो मैं-मेराका सम्बन्ध है, वही दुःख है। जितना भी दुःख है, वह सब-का-सब अविवेक-मूलक है।

अब जरा कर्मके कर्त्तापर ध्यान दो। जैसा कि पहले कहा गीता स्पष्टरूपसे कहती है कि ईश्वर कर्त्ता है, जीव कर्त्ता नहीं है। यह बात जब आप गीता पढ़ेंगे और उसके तत्त्वज्ञान-प्रसङ्गपर ध्यान देंगे तो आपको साफ-साफ मिलेगी। **'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः'** प्रकृतिके जो सत्त्व, रज, तम गुण हैं वे कर्म करते हैं, आत्मा नहीं; प्रकृति कर्म करती है जीवात्मा नहीं। यह बात जरा जन-सामान्यकी समझसे ऊपर उठ जाती है, परन्तु समझनेका प्रयास करना चाहिए। कर्त्तापनका अभिमान ईश्वरकी ओर नहीं देखनेसे और अपने आत्माका अनुभव नहीं करनेपर ही होगा। जब दृष्टि बीचमें अटक जाती है तभी कर्त्तापनका अभिमान होता है—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

ईश्वर सबके हृदयमें बैठा हुआ है और वह यन्त्रारूढ़को जीवको मायासे घुमाता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा अकर्ता है। हम इस प्रसंगको ज्यादा नहीं बढ़ाना चाहते, शुरूमें ही एक बात कह दी गयी है—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

अर्जुन, तुम जो समझते हो कि मैं मारता हूँ या मैं अपनेको मृत्युका विषय बनाता है, यह ठीक नहीं है। तुम अपने अविनाशी आत्माको समझो। न तुम्हारे अन्दर वधकी योग्यता है और न वधका कर्तृत्व है। न तुम मरोगे न मारोगे। यदि कहो कि भाई, हम अपने आत्माको नहीं जानते तो नहीं जाननेपर क्या होगा—यह समझ लो—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

इसमें भक्ति भी है, ज्ञान भी है। भक्ति और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। एकका कहना है कि कर्म ईश्वरकी प्रेरणासे होता है, तुम कर्ता नहीं हो और दूसरेका कहना है कि कर्म मायासे, प्रकृतिसे, अविद्यासे होता है, तुम कर्ता नहीं हो। दोनों अलग-अलग बात नहीं बोलते, एक ही बात बोलते हैं। ज्ञान बोलता है कि अपना आत्मा—'न करोति न लिप्यते' न कर्ता है और न भोक्ता है। यही बात भक्तिमें भी ज्यों-की-त्यों है। वह कहती है कि 'अहं न करोमि'—मैं नहीं करता, ईश्वर करता है।

करी गोपालकी सब होय।
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति मूरख है सोय॥

तो भक्तिमें भी वही बात हो गयी—'अहम् अकर्ता द्रष्टा असङ्गः' अर्थात् मैं अकर्ता हूँ, द्रष्टा हूँ, असङ्ग हूँ।

तो, ज्ञान और भक्ति दोनों ही हमको कर्मके अभिमानसे छुड़ाते हैं। दोनों वेदशास्त्रोंके अनुसार हैं, दोनोंमें सदाचार है, सद्भाव है और दोनों कर्मके बन्धनसे छुड़ानेवाले हैं। कहीं-कहीं तो भक्ति और ज्ञानकी एकता बिलकुल साफ-साफ है। आप नवें अध्यायमें देखें। एक ओर भक्ति बोलती है तो दूसरी ओर ज्ञान बोलता है। ऐसा लगता है कि दोनों साथ-साथ दो मित्रोंकी तरह या प्रेयसी-प्रियतमकी तरह आपसमें खड़े होकर संवाद कर रहे हैं। भगवान् दोनोंकी ओर बोलते हैं। उदाहरणके तौरपर देखिये—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि।' ज्ञानकी ओरसे बोलते हुए भगवान् कहते हैं :

'**मत्स्थानि सर्वभूतानि**'—ये सब प्राणी, सारे पदार्थ मुझमें स्थित हैं और भक्तिकी ओरसे बोलते हुए कहते हैं—'न च मत्स्थानि भूतानि' अर्थात् मुझमें कुछ नहीं है। सारी विश्व-सृष्टि भगवान्के अन्दर है। यह परस्पर विरोधी कथन कितना अटपटा है। एक बार तो यह कह दिया कि सब मुझमें स्थित है और दूसरी बार यह कहा कि सब मुझमें स्थित नहीं है। परन्तु यह तो साक्षात् भगवान्की वाणी है जो एक दूसरेके विरुद्ध प्रतीत होती हुई भी एक है। जब ज्ञान और भक्ति दोनों भगवान्के सामने खड़े हुए तो भगवान्ने कहा कि बोलो क्या कहते हो? भक्तिने कहा—सब कुछ आपमें, ज्ञानने कहा कि नहीं, आपमें कुछ भी नहीं। भगवान् बोले कि तुम्हारी बात भी सही, मेरी बात भी सही, दोनोंकी बात सही। आपको याद होगा कि जब श्रीकृष्णने मिट्टी खायी थी तब ग्वालबालोंने कहा कि इसने मिट्टी खायी है, बलरामने भी कहा इसने माटी खायी है। इसपर यशोदाने कहा कि अब बोल, तूने माटी क्यों खायी? तो भगवान् दोनों ओरसे बोलते हैं, भागवतमें ऐसा पद प्रयुक्त है—'नाहं भक्षितवान् अम्ब'—मैया मैंने माटी नहीं खायी। आगे कहते हैं कि 'सर्वे मिथ्याभिशंसिनः, सर्वे अमिथ्याभिशंसिनः'—ये सबके सब झूठ बोल रहे हैं, सबके सब सच बोल रहे हैं। दाऊ सामने आजायँ तो कहें कि हाँ भैया खायी, मैया कहे तो बोलें कि नहीं खायी। मैयाका स्नेह है उससे डरते हैं, कहते हैं कि नहीं खायी और दाऊसे भी डरते हैं कहते हैं कि हाँ भैया, तुम ठीक कहते हो। यहाँ देखो ग्वाल-बालोंकी नजरमें भगवान्ने माटी खायी तो बोलते हैं कि हाँ खायी और अपनी नजरमें मैयासे बोलते हैं कि नहीं खायी। जीवोंने देखा कि ईश्वर खाता है तो ईश्वरने भी कहा कि हाँ-हाँ, जो लाओ सो खानेको तैयार हूँ। गीता भी बोलती है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

अरे बाबा, प्रेमसे कुछ ले आओ, पत्ता ही लाओ—तुलसीदल खा लूँगा, बेलपत्र भी खा लूँगा, फूल भी खा लूँगा, फल भी खा लूँगा, पानी भी पी लूँगा। मैं तो सब कुछ खाने पीनेको तैयार हूँ। लेकिन दूसरी जगह बोल दिया—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

यह है गीताका भगवान्! यह है भगवती गीता! गीता कामधेनु है और

भगवान् कल्पवृक्ष हैं। तुम जो भी भावना लेकर इनके पास पहुँचोगे, वह पूरी होगी। गीता मातासे कहो कि माँ! हमको कुछ ड्यूटी बताओ। वह कहेगी कि बेटा कर्म करो, तुम्हारा यही कर्तव्य है। लेकिन यदि तुम्हारी रुचि कर्ममें नहीं है और तुम कहो कि मैं तो प्रेम ही करूँगा तो गीता मैया कहेगी कि अच्छा प्रेम ही करो। यदि तुम कहो कि मैं तो आँख बन्द करके योगाभ्यास करूँगा तो कहेगी कि ठीक है वैसा ही करो। तुम कहो कि मैं तो घटाकाश, मठाकाशका प्रमाण-मूलक विचार करूँगा, उससे प्रमा होगी और भ्रमकी निवृत्ति होगी तो कहेगी कि हाँ, ऐसा ही करो। यह माँ है। जिस बेटेकी जैसी रुचि होती है उसकी वैसी ही पूर्ति करती है। इसीलिए भक्त बोलते हैं कि 'अम्ब त्वामनुसन्दधामि'—गीता, तुम मेरी मैया हो। मैं तेरी ओर देख रहा हूँ, मैं तेरा अनुसन्धान कर रहा हूँ।

अब ज्ञान और भक्तिके कर्मकी बात भी देखो। कई लोग कहते हैं कि मैं कर्ता तो नहीं हूँ, परन्तु अकर्ता हूँ। इस वृत्तिको मायामल बोलते हैं। कर्तापनके भ्रमको मिटानेके लिए अकर्तापन अध्यारोपित किया गया है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अकर्तापनका आश्रय लोगे तो कर्तापनकी भ्रान्ति मिट जायेगी और यदि 'मैं अकर्ता हूँ'—इसको धारण करोगे तो यह तुम्हारे ऊपर बोझ हो जायेगा। तब तो फिर बैठो समाधिमें और मैं अकर्ता हूँ, मैं अकर्ता हूँ-का ध्यान करो। कबतक करोगे? मैं अकर्ता हूँ—ऐसा सोचना भी बुद्धिका एक कर्म है। वह भी एक विक्षेप है, समाधि नहीं है। समाधिमें कौन सोचेगा कि मैं अकर्ता हूँ।

यदि कहो कि अपना आत्मा तो ऐसा है, जो कर्ममें भी रहता है और समाधिमें भी रहता है—समाधिमें भी ज्यों-का-त्यों रहता है और कर्ममें भी ज्यों-का-त्यों रहता है। तो यह ठीक है। जब ज्यों-का-त्यों आगया तब जो कर्मका निषेध था, वह अपने आप ही कट गया। जो रणभूमिमें है, वही अरण्यभूमिमें है, जो विक्षेपमें है वही समाधिमें भी है। फिर अपने कर्तव्यका त्याग क्यों करते हो? यही गीताका ज्ञान है। यह आपको जंगलमें भेजनेके लिए नहीं है, जहाँ आप हैं, वहीं मंगल करनेके लिए है। अर्जुनका मंगल रणभूमिमें ही हुआ जंगलमें नहीं हुआ।

एक सज्जनने अर्जुनकी मुक्तिके सम्बन्धमें लिखकर भेजा है। यदि वे मिल लेते तो बात करनेमें सुविधा होती। यह समझनेकी बात है कि अर्जुनके तीन रूप हैं—नररूप, नर-नारायणरूप और नित्यमुक्त रूप। उसका कभी बन्धन हुआ ही नहीं, वह इन्द्रांश है, आधिकारिक पुरुष है। वह शरीर छोड़नेके बाद भी स्वर्गमें जाता है और जबतक उस इन्द्रका मन्वन्तर रहता है तबतक वह मन्वन्तरपर्यन्त

इन्द्रसे एक होकर रहता है। अर्जुन इन्द्रांश होनेसे कारक-पुरुष है, नर-नारायण होनेसे नित्य-मुक्त है और मनुष्य रूप होनेसे—कौन्तेय होनेसे अज्ञानी है, इसीलिए उसको भगवान् ज्ञानका उपदेश करते हैं। उस ज्ञानके उपदेशमें भी प्रतिबन्ध लगा हुआ है। समय बहुत बीत गया उपदेश सुननेमें, उपदेश सुनकर कर्ममें लगना पड़ा, कर्ममें लगनेपर कभी रजोगुणका प्रभाव पड़ता है और कभी तमोगुणका प्रभाव आजाता है। इससे ज्ञानमें प्रतिबन्ध उपस्थित हो गया और जब ज्ञानमें प्रतिबन्ध उपस्थित हुआ तब उत्तर-गीताका कहना है कि अर्जुनने फिर योगाभ्यास किया और उसके बाद प्रतिबन्धकी निवृत्ति हुई। महाभारतका कहना है कि जब श्रीकृष्णने पुनः अर्जुनको अनुगीताका उपदेश किया तब प्रतिबन्धकी निवृत्ति हुई और भागवतका कहना है कि जब भगवान् परमधाम चले गये तब अर्जुनको उनका वियोग हुआ और वियोगमें उनका स्मरण हुआ। जब अर्जुनको श्रीकृष्णका स्मरण हुआ तब वह रोने लगा, झर-झर आँसू गिरने लगे और उसको व्याकुलता हो गयी। उसके बाद श्रीकृष्ण-स्मरणसे अर्जुनका अन्तःकरण पवित्र होनेपर ज्ञानमें जो अवरोध था, प्रतिबन्ध था उसकी निवृत्ति हो गयी। यह प्रसंग भागवतमें इस प्रकार है—

गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्संग्राममूर्धनि।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद् विभुः॥
विशोको ब्रह्मसम्पत्या संच्छिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः॥

अर्जुन तुरन्त नित्यमुक्त हो गया। उसमें जो आवरण था, प्रतिबन्ध था, उसको श्रीकृष्णने उसी समय दूर कर दिया था। परन्तु इस प्रसङ्गमें यह भी दिखाना था कि जब किसी साधकके, जिज्ञासुके जीवनमें प्रतिबन्ध आता है तब उस प्रतिबन्धकी निवृत्ति कैसे होती है? मनुष्यरूप अर्जुनके ज्ञानमें प्रतिबन्ध आया और उसकी निवृत्ति हुई भगवान्के स्मरणसे। इन्द्रांशके रूपमें तो वह स्वर्ग चला गया, कारक-पुरुष हो गया और नर-नारायणके रूपमें बन्धन था ही नहीं।

अब भक्ति और ज्ञान दोनोंके सम्बन्धमें थोड़ी बात और सुन लीजिये। जब अर्जुन युद्धभूमिमें अपने ममतास्पद लोगोंको देखकर व्याकुल हो गया तो उसके मनमें क्या विचार आया? अरे, ये तो मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, चाहे इधर हों चाहे उधर हों, दोनों पक्षोंसे जो आये हैं वे सब अपने हैं। जब ये मरेंगे तब अपने सम्बन्धी ही मरेंगे। यहाँ देखो सन्तकी दृष्टि। यह अवस्था देखकर सञ्जयने यह नहीं कहा कि अर्जुनके अन्दर कोई दोष आ गया, यही कहा कि 'तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णा-

कुलेक्षणम्।' सञ्जय देखते हैं कि अर्जुनके अन्दर जो व्याकुलता है, वह मोहके कारण नहीं दयाके कारण आयी है। वह चाहता है कि लोग मरें नहीं। लेकिन दुर्योधनकी दूसरी स्थिति है। वे कहते हैं कि 'मदर्थे त्यक्तजीविताः' —ये सब मेरे लिए लड़-लड़कर मरेंगे और मैं राजा बन जाऊँगा। अर्जुनकी बुद्धि इस प्रकार है—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥

अर्थात् मैं जिनके लिए लड़ने आया हूँ वे यदि मर जायेंगे तो मैं जीतकर क्या करूँगा—'किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।' अर्जुन कहते हैं कि हम अपने लिए तो लड़ने आये नहीं हैं। हम तो इन लोगोंके सुखके लिए, धर्मकी रक्षाके लिए लड़ने आये हैं। किन्तु ये बेचारे मर जायेंगे तो हम युद्धमें विजयी होकर क्या करेंगे? क्या हमें राज्य चाहिए, भोग चाहिए, धन चाहिए? हमें तो कुछ नहीं चाहिए। यह अन्तर है अर्जुन और दुर्योधनमें। इसलिए सञ्जय कहते हैं कि अर्जुनके हृदयमें कृपा है, करुणा है, वैराग्य है, इसलिए वे नहीं लड़ना चाहते। परन्तु श्रीकृष्णने तो अर्जुनको डाँट भी दिया—'कुतस्त्वा कश्मलमिदम्' यह उनका अर्जुनके प्रति अपनापन है। महात्मा वह होता है जो दोषको भी गुणके रूपमें ग्रहण करता है और मित्र वह होता है जो अपने मित्रसे साफ-साफ कह देता है कि तुम गलती करते हो। इसीलिए श्रीकृष्णने कहा कि अर्जुन तुम गलत काम कर रहे हो। अर्जुनने श्रीकृष्णकी बात स्वीकार की, किन्तु सञ्जयकी यह बात स्वीकार नहीं की कि मेरे अन्दर बड़ी दया भरी है, बड़ी करुणा भरी है, वे तो कहते हैं कि 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' मैं मूढ़ हूँ, अज्ञानी हूँ, 'धर्मसंमूढचेताः।' इसके बाद अर्जुनके हृदयमें आयी भक्ति और उसने कहा कि 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'—मैं तुम्हारी शरणमें हूँ।

देखो, अज्ञानीका अज्ञान दूर करनेका उपाय यही है। यदि कोई अन्धा अपने अन्धेपनमें इधर-उधर टटोलने लग जाय तो उसके भटकनेका डर होता है। यदि किसी अन्धेके पीछे चले तब भी भटक जानेका डर होता है। लेकिन यदि वह किसी आँखवालेका सहारा लेकर, उसका हाथ पकड़कर चले तो अपने गन्तव्यपर पहुँच जाता है।

एक विद्यार्थी काशीमें पढ़ता था। वह बहुत वर्षोंसे घर नहीं गया। परन्तु उसके गुरुजी किसी कारणवश उसकी जन्मभूमिमें पहुँच गये। विद्यार्थीके पिता आये और बोले कि गुरुजी महाराज, हमारा बेटा आपके पास पढ़ता है। हाँ भाई, पढ़ता तो है बहुत दिनोंसे। उसकी क्या स्थिति है? कितना पढ़ गया? गुरुजी बोले

कि तुम्हारे बेटेकी स्थिति क्या बताऊँ? वह स्वयं तो कुछ समझता नहीं और दूसरेका समझाया मानता नहीं, इसलिए उसकी उन्नति इसी तरहसे हो रही है।

इसका तात्पर्य यह है कि यदि तुम्हें आगे बढ़ना हो और तुम्हारी अपनी समझ काम न करती हो तो किसी समझदारकी सलाह लेकर काम करना चाहिए। अर्जुनने जो पहला काम किया, वह बड़ी समझदारीका काम किया कि शरणागत हो गया—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' इसमें ज्ञान भी है भक्ति भी है। 'शिष्यस्तेऽहम्'का अर्थ है कि आप हमको शिक्षा दीजिये। ज्ञानका उपदेश दीजिये। आप गुरु; मैं शिष्य—यह ज्ञान हो गया। 'त्वां प्रपन्नम्'का अर्थ है कि मैं आपकी शरणमें हूँ। मैंने आपका पाँव पकड़ लिया, अब जो कहोगे करूँगा। यह भक्ति हो गयी। अर्जुन जिज्ञासा और प्रपत्ति दोनों लेकर श्रीकृष्णके सामने उपस्थित हुआ। जिज्ञासा पक्की निकली। उसमें जो थोड़ी त्रुटि थी, उसको भगवान्‌ने दूर कर दिया। वह त्रुटि क्या थी? यह थी कि 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।' अर्जुनने पहले तो कहा कि मैं आपकी शरणमें हूँ, आप मुझे मार्ग बतलाइये, उपदेश दीजिये और बादमें कहा कि मैं नहीं लड़ूँगा। अरे भाई, एक ओर तो सलाह पूछ रहे हो और दूसरी ओर अपने निश्चयकी बात भी बता रहे हो तो यह कैसे बनेगा? जब तुम प्रपन्न हो गये तो बात मानो। इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनकी प्रपत्तिकी शुद्धि की गीताके अन्तमें और शिष्यताकी शुद्धिकी प्रारम्भमें।

ज्ञानमें उपदेश लेना पड़ता है और भक्तिमें शरणागत होना पड़ता है। दोनों ही लेकर अर्जुन भगवान्‌के सामने आये। भगवान्‌ने उसकी जिज्ञासाका शोधन गीताके उपदेशसे किया और प्रपत्ति, शरणागतिका शोधन किया इस वाक्यसे '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**'

यदि कहो कि अर्जुन तो पहले ही श्लोकमें प्रपन्न हो गया था, तो उसको यह उपदेश करनेकी क्या जरूरत थी कि हमारी शरणमें आओ तो इसका उत्तर यह है—अर्जुनकी प्रपत्ति भी अधूरी थी और जिज्ञासा भी अधूरी थी। शिष्यमें जो अधूरापन होता है, उसको गुरु लोग ही पूर्ण करते हैं। यहाँ भगवान् अर्जुनके गुरु भी हैं, मित्र भी हैं—'भक्तोऽसि मे सखा चेति' और ईश्वर भी हैं—'परं ब्रह्म, परम धाम, पवित्रं परमं भवान्।' अर्जुन भी भगवान्‌को भगवान्‌के रूपमें पहचानते हैं। 'शिष्यस्तेऽहम्'का तात्पर्य हुआ कि भगवान् गुरु हैं, 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्'का तात्पर्य हुआ कि भगवान् सखा हैं और 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'का तात्पर्य हुआ कि भगवान् साक्षात् शरण्य हैं, परमेश्वर हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ५ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

अपने हृदयकी प्रियभावनाको प्रकट करनेका नाम गीत है। बहुधा गीतोंके द्वारा संयोग भावना, वियोग भावना, ललित भावना प्रकट की जाती है। गा-गाकर बोलना माने विरह या संयोगकी रसानुभूतिको जाहिर करना, अभिव्यक्त करना, प्रकट करना। अनुष्टुप् छन्दमें बहुत संगीत होता है। सारा वाल्मीकि-रामायण गाकर बोला गया है। लव और कुश दोनों भाई ताल, स्वर, लय आदिके साथ वाल्मीकि-रामायणका गान किया करते थे। गीतामें भी अधिकांश अनुष्टुप् छन्द हैं। इसलिए यह गानेके योग्य है। इसमें किसका गान है? जो साँपके फणपर नाचकर बाँसुरी बजा सकता था, उसका गान है। गीत-संगीत ललितकला है। इसी तरह बाहरकी वस्तुओंका ठीक-ठीक अनुकरण कर लेना, नकल कर लेना भी कला है। कागजपर पेड़-पौधा, पशु-पक्षी बना लेना, कोयलकी तरह कुहू-कुहू बोलना, गधेकी तरह रेंकना और मोरकी भाँति नाचना आदि भी कला है। संगीतके सात स्वरोंमें जहाँ कोयलका पंचम स्वर है वहाँ गधेका भी स्वर है।

अब ज्ञान-विज्ञानकी बात देखो। विज्ञान बाहरकी वस्तुओंको स्वच्छ करनेके लिए होता है—जैसे रुई साफ करना, कपड़ा बनाना, लोहा, मिट्टी, हीरा, सोना आदि साफ करना। बाहरकी वस्तुओंका विश्लेषण करके उनके विश्लिष्ट अर्थात् अलग-अलग रूपको एकमें-से निकालकर उन्हें शुद्ध रूपमें दिखानेकी प्रक्रियाको विज्ञान कहते हैं।

जो वस्तु जैसी है और जो अनेकमें एक है, उसको जान लेना ज्ञान है। दूसरे शब्दोंमें एक अनेक कैसे होता है, इस प्रक्रियाको जानना विज्ञान है और अनेकमें एक कैसे समाया हुआ है इसको जानना, जो चीज जैसी है उसको ज्यों-का-त्यों समझना उसमें अपनी ओरसे कुछ भी नमक-मिर्च न लगाकर वस्तुकी यथार्थताका अनुभव करना—ज्ञान है। यदि जानी हुई वस्तु अपनी आत्मा है तब तो उसके प्रति सहज प्रीति हो जाती है। जैसे अपनी सहज प्रीतिका प्रकाश अपने शरीरमें है, अपने संकल्पमें है, अपने विचारोंमें है, अपनी स्थितिमें है, वैसे ही अपने स्वरूपमें सहज प्रीति रहती है, अपनेमें प्रेम करना नहीं पड़ता, वह तो सबका स्वभाव है।

अब देखो उस प्रेमका स्वरूप। यदि अपनेको छोटा मानोगे तो तुम्हारी प्रीति छोटेमें रहेगी और यदि अपनेको बड़े रूपमें जान लोगे तो बड़ेमें प्रीति हो जायेगी।

जैसे देहानन्द होता है, वैसे ही ब्रह्मानन्द भी होता है। अपनेको देह जानोगे तो देहमें प्रीति रहेगी और अपनेको ब्रह्म जानोगे तो ब्रह्ममें प्रीति हो जायेगी। लेकिन यदि उस एकको अन्यके रूपमें जानोगे तो उससे जो प्रीति होगी, उसे भक्ति कहेंगे। अपने विविक्त अर्थात् विवेक किये हुए आत्मामें जो प्रीति होती है, उसको आत्मरति और विश्वासपूर्वक परोक्ष रूपसे माने हुए परमेश्वरमें जो प्रीति होती है, उसको भगवद्रति, भगवद्भक्ति कहते हैं। तत्त्वज्ञानके द्वारा उपाधिका निरसन करके, निषेध करके जब दोनोंकी एकता हो जाती है तब उसको जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख, विलक्षण आनन्द मानते हैं। ईश्वर पराया नहीं है, दूसरा नहीं है। उससे प्रेम करना नहीं पड़ता। अपने-से जो सहज प्रेम है वह ब्रह्मरूप, अद्वितीय सत्तारूप, अद्वितीय चेतनरूप, अद्वितीय आनन्द रूपके प्रति भी हो जाता है। इस प्रेमको संकुचित करनेवाला कोई पदार्थ नहीं होता। जब अनन्त अद्वितीय आत्मप्रेमका उदय होता है तब पृथिवीकी सुगन्ध अपने पर्देको फाड़कर सर्वत्र मह-मह-महकने लगती है। जल अपना आवरण त्यागकर रस-ही-रस हो जाता है। रूप अपना आवरण त्यागकर सौन्दर्य ही सौन्दर्य हो जाता है। वायु अपना आवरण त्यागकर सुकुमारताके रूपमें प्रकट हो जाता है, आकाश अपना आवरण त्यागकर मधुर-मधुर संगीतसे भर जाता है, इसलिए मन अपना आवरण त्यागकर सुखस्रोत हो जाता है और सुखकी नदियाँ बहने लगती हैं, सुखका समुद्र उमड़ पड़ता है और बुद्धि अपना आवरण त्यागकर निर्भ्रम हो जाती है, उसमें प्रमा-ही-प्रमा, ज्ञान-ही-ज्ञान, प्रकाश ही प्रकाशका अवतरण हो जाता है।

विज्ञान शिल्पके अन्तर्गत आता है। हम किसी लेबोरेटरीमें, प्रयोगशालामें, किसी मशीनसे ईश्वरको सिद्ध करना चाहें तो वहाँ विज्ञानकी गति नहीं है। यदि कहो कि हम ईश्वरको तस्वीरमें उतार देते हैं तो रसिक बिहारी कहते हैं कि बहुत-से बड़े-बड़े कलाकार यह अभिमान लेकर बैठे कि हम ईश्वरकी तस्वीर खींचेंगे, लेकिन हुआ क्या? 'भए न केते जगतके चतुर चितेरे कूर'—बड़े-बड़े चतुर चित्रकार भी बेवकूफ बन गये, ईश्वरकी तस्वीर किसीसे नहीं उतरी।

तो विज्ञान उन्हीं वस्तुओंको दिखा सकता है जो हम अपनी इन्द्रियोंसे देख सकते हैं। मशीनकी सहायतासे आप किसी शब्दको लाख गुना अधिक या लाख गुना सूक्ष्म सुन सकते हैं, परन्तु सुनेंगे तो कानसे ही सुनेंगे। क्योंकि शब्द कानका ही विषय है। इसलिए नाकसे सूँघेंगे तो गन्ध ही सूँघेंगे, त्वचासे छूयेंगे तो स्पर्श ही छूयेंगे, किन्तु वह भी पूर्ण नहीं, बिलकुल आधा-अधूरा। इसलिए यदि परमेश्वरके

मार्गमें चलना है तो जबतक वह मिलता नहीं, तबतक उसकी खोज जारी रहनी चाहिए। जब मिल जाता है तो अनुभव-स्वरूप ही हो जाता है, आत्मा और परमात्मामें अन्तर नहीं रहता। एक बात आप ध्यानमें रख लो कि यदि परमात्मा हमसे अलग होगा तो चेतन नहीं होगा। चेतन हमेशा द्रष्टामें होता है, जाननेवालेमें होता है, हमसे भिन्न ईश्वरमें जो चेतना होगी वह हमारी मानी हुई होगी, अवस्तु होगी। हमसे अलग होनेपर ईश्वर बेहोश हो जायेगा—अचेतन हो जायेगा। यदि हम ईश्वरसे अलग होंगे तो उसी तरह हमारी पूर्णता कट जायेगी। हम परिच्छिन्न हो जायेंगे। जैसे तलवारकी चोटसे कोई चीज कट जाती है, वैसे ही ईश्वरसे अलग होनेपर आत्मा परिच्छिन्न हो जाता है। ईश्वर हमसे अलग होकर बेहोश है और हम उससे अलग होकर घायलकी तरह तड़फड़ा रहे हैं, दुखी हैं, परिच्छिन्न हैं। इसलिए जबतक हमारा और परमेश्वरका मेल नहीं होगा, हम मिलेंगे नहीं, तबतक न तो परमेश्वर होशमें आयेगा और न हमारी पीड़ा मिटेगी। चेतनता आत्मस्वरूप होती है, अन्यमें कभी होती नहीं। यह जीव है, यह ईश्वर है, यह जगत् है इसको जाहिर करनेके लिए, आत्मचैतन्यकी आत्म-वस्तुको जाननेके लिए हमारे ज्ञानकी प्रधानता होती है और परोक्ष वस्तुको जाननेके लिए श्रद्धा की। क्योंकि जो वस्तु परोक्ष है, आँखोंसे ओझल है, कभी देखी हुई नहीं है, अनमिला साजन है, अनदेखा मार्ग है, उसके लिए श्रद्धाकी, रुचिकी, लगनकी आवश्यकता पड़ती है। श्रद्धाको, रुचिको लगनको, खोजको उत्सुकताको, व्याकुलताको और उत्कण्ठाको भक्ति कहते हैं।

'क्रीयतां क्रीयताम्'—सौदा करो, सौदा करो—खरीदो-खरीदो। क्या खरीदें महाराज? '**कृष्ण भक्तिरसभाविता मतिः**'—श्रीकृष्णके भक्तिरसमें डूबी हुई बुद्धिको खरीदो। जिस किसी भी कीमतपर मिले खरीदो। किससे खरीदें, किस दुकानसे खरीदें? अरे दुकानका विचार मत करो, जहाँ मिल जाये वहींसे खरीद लो 'अन्त्यादपि परं धर्मम्'—(२.२३८) मनुजीने कहा कि परम धर्म यदि अन्त्यजसे मिले तो वहाँसे भी ले लेना चाहिए। महाराज, यह परम धर्म अन्त्यजको कहाँसे मिला? बोले कि उसने पूर्वजन्ममें बड़ी भारी साधना की थी, वह किसी प्रतिबन्धके कारण अन्त्यज योनिमें आ गया है, किन्तु परमधर्म मिलना बड़ा मुश्किल है। इसलिए वह ब्राह्मणसे, विद्वान्से, साधुसे नहीं मिलता हो और अन्त्यजसे मिलता हो तो खरीद लो। किस कीमतपर मिलेगा महाराज? अरे भाई, उसकी कोई कीमत नहीं है, वह दुर्लभ है। 'जन्मकोटिसुकृतैर्नलभ्यते'—यदि तुम उसको कीमत देकर खरीदना चाहोगे तो अपना सर्वस्व या संसारकी सारी सम्पदा देनेपर भी, उसको

नहीं प्राप्त कर सकते। हाँ, यदि उसके लिए तुम्हारे मनमें रुचि है, लगन है, उत्सुकता है, लालसा है, उत्कण्ठा है, व्याकुलता है तो उसको अवश्य प्राप्त कर सकते हैं—'तत्रमूल्यमपि लौल्यमेकलम्।'

अब आप देखो गीता कहती है कि शरीरका स्वास्थ्य भी ठीक रहना चाहिए, नहीं तो कोई साधन नहीं बनेगा। स्वस्थ शरीरके लिए चरित्रका शुद्ध होना आवश्यक है और चरित्र-शुद्धिके लिए संयमी होना अनिवार्य है। इसलिए यह ध्यानमें रखो कि इन्द्रियाँ मनमाने ढंगसे संसारमें विचरण न करें, नियन्त्रित रीतिसे, मर्यादामें रहकर ही अपने विषयका उपभोग करें। **'मर्त्यैं मर्त्यैर्हि मनुष्यैः आदीयते इति मर्यादा'**—मनुष्य-जातिके लिए परम आवश्यक है कि वह एक मर्यादामें रहकर ही अपना सारा काम करे। मनुष्यकी वासनाका अन्त नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति चाहे कि उसकी वासना पूरी हो जाये तो वह सम्भव नहीं है। मनुष्यकी वासना साम्राज्य, स्वाराज्य, सार्वभौमत्व प्राप्त करनेकी होती है। जब दो व्यक्तियोंकी वासना आपसमें टकराती है तब उनमें वैमनस्य होता है, संघर्ष होता है, युद्ध होता है। इसलिए यदि कोई अपनी सारी वासनाओंको पूर्ण करके संसारमें सुखी होना चाहेगा तो नहीं होगा।

तो मनुष्य जीवनमें एक मर्यादा होनी चाहिए। मर्यादा माने एक सीमा और वह भी धर्मके अनुसार। किसीने एक महात्मासे पूछा कि महाराज, हम चाहे जो खायें, इसमें धर्मका, शास्त्रका क्या बिगड़ता है? महात्मा बोले कि हम ऐसी चीज तुम्हें खानेको दे सकते हैं जिसको तुम मनाकर दोगे कि हम नहीं खायेंगे। दुनियामें ऐसी बहुत चीजें हैं, जिनको देखते ही तुम नाक-भौं सिकोड़ लोगे और कहोगे—नहीं, नहीं, नहीं, यह खानेका नहीं है। जब एक जगह जाकर तुम मना करोगे ही तब पहलेसे ही सोच-विचार करलेना कि यह खानेका नहीं है, यह भोगनेका नहीं है, यह करनेका नहीं है, यह बोलनेका नहीं है और यह इकट्ठा करनेका नहीं है। अपने जीवनमें चार मर्यादा बना लो—

१. वाणीपर संयम—यह बात बोलनेकी नहीं है।

२. कर्मेन्द्रियोंपर संयम—यह काम करनेका नहीं है।

३. संग्रहपर संयम—यह चीज इकट्ठी नहीं करनी है, लेनी नहीं है।

४. भोगपर संयम—हमें इतना ही चाहिए इससे अधिक नहीं चाहिए।

इन मर्यादाओंकी जीवनमें आवश्यकता है। बिना मर्यादाका जीवन जड़तामें बिखर जाता है। उससे कोई भी महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो सकता। धर्मका रहस्य

वही जानता है, जिसका शरीर स्वस्थ है, चरित्र पवित्र है, जिसकी इन्द्रियोंमें संयम है, जिसके मनमें सबके प्रति सद्भाव है और जो किसीका बुरा न चाहे—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥(शान्ति० २६२.१६)

महामना मालवीयजीने जाजलि-उपाख्यानका संग्रह किया था। अद्भुत उपाख्यान है वह। उसमें कहा गया है कि धर्मका रहस्य वही जानता है, जिसके मनमें दूसरेके पापी होनेका कभी ख्याल भी नहीं होता, जो कर्म, मन और वाणीसे किसीको पापी नहीं समझता। जब पापाकार वृत्ति होती है, तब पापाकार वृत्तिका जो आश्रय है, आश्रय-चिन्तन है, वही भीतर चैतन्य भी होता है। अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्यसे एक हो जाता है। जिस समय हम पापीको देखते हैं, उस समय हमारा अन्त:करण भी पापमय होता है और हम भी पापी होते हैं। जो अन्त:करणावच्छिन्न चैतन्य है वही पापाकार वृत्ति—विषयावच्छिन्न चैतन्य है। पाप देखनेपर हम पापीसे बिलकुल एक हो जाते हैं। इसलिए अपने मनमें सबके प्रति सद्भाव हो और बुद्धिमें विचार हो। हम जो कुछ भी काम करें विवेकसे करें—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक: परमापदां पदम्।
वृतेणु हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धा: स्वयमेव सम्पदा॥

(किरातार्जुनीय २.३०)

कोई भी काम एकाएक नहीं कर देना चाहिए। जो विचारपूर्वक काम करता है, उसके पास सम्पत्ति स्वयं आकर वरमाला पहनाती है। क्योंकि सम्पत्ति भी गुणोंपर लुभा जाती है।

एक बात और। मैं कल आपको सुना रहा था कि 'अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'—जब मनुष्यकी बुद्धि अहंकारके कारण विमूढ हो जाती है, कहीं अटक जाती है, तब वह अपने कर्तापनका अभिमान करता है। आप बहुत बढ़िया-बढ़िया काम कीजिये। आपको सौ बरस, उससे भी अधिक जीनेका हक है—'कुर्वन्नैवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमा:'। लेकिन जरा यह तो सोचिये कि आप जो इतने वर्षोंतक जीते रहे इसमें आपने क्या-क्या उत्तम काम किया? ईश्वरकी कृपासे, ईश्वरकी प्रेरणासे कोई बढ़िया काम हुआ, कि नहीं हुआ। यदि अबतक आपने कोई बढ़िया काम नहीं किया और सौ बरसतक जीना चाहते हैं तो कम-से-कम यह तो सोचिये कि अगले वर्षोंमें बहुत बढ़िया काम करेंगे। परन्तु ऐसा सोचते

समय ईश्वरकी शक्तिको मत भूलिये, अन्यथा आप अहंकार विमूढात्मा हो जायेंगे। यही गीताका सिद्धान्त है।

जैसे अर्जुनने श्रीकृष्णके मुँहसे गीता सुनी, वैसे ही सञ्जयने भी श्रीकृष्णके मुँहसे गीता सुनी। बीचमें एक पर्दा था। लेकिन श्रीकृष्णके वचन सञ्जयके कानोंमें पड़ते गये। अद्भुत है! लोग समझते हैं कि एक कारखाना होगा, उसमें टी० वी० तैयार होगी, सैकड़ों तार उसमें जोड़े जायेंगे, बिजलीका संचार होगा, तब वह आवाज और दृश्यको ग्रहण कर सकेगा। आप सोचो तो सही जब एक खास तरहकी मशीन दूरके शब्द और रूपको ग्रहण करके सुना-दिखा सकती है, तब क्या आपके भीतर चेतनासे भरपूर नस-नाड़ियोंका विन्यास दूरका शब्द, रूप नहीं सुना दिखा सकता? क्या हम अपने हृदय और मस्तिष्कके ताने-बानेको इस योग्य नहीं बना सकते कि दूरके शब्द, रूपको सुन-देख लें? यदि बाहरके जड़ पदार्थोंसे टी० वी० बनायी जा सकती है तो अपने हृदय-मस्तिष्कके, अन्त:करणके विन्यासको इस योग्य नहीं बनाया जा सकता कि वह शब्द रूपका ग्रहण कर सके? दूरदर्शन मशीनके तारोंकी तरह क्या हमारी अन्तर नाड़ियोंमें शब्द, रूप ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं है? यदि नहीं है तब सञ्जयपर व्यासजीने ऐसा शक्तिपात कैसे किया कि वह इतनी दूर बैठे-बैठे गीता सुन सका और उसके वक्ता श्रीकृष्णको देख सका—'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान्'। सञ्जयको भगवान्के विराट्का दर्शन हुआ, तभी वह कह उठा—'**तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः**'।

सञ्जय युद्धभूमिमें श्रीकृष्णार्जुन संवादको सुनकर एक निश्चयपर पहुँच गया। इधर अर्जुन भी निश्चयपर पहुँच गया। श्रीकृष्णके दोनों श्रोता एक निश्चयपर पहुँच गये। तीसरे पात्र धृतराष्ट्रने सञ्जयके मुँहसे गीता तो सुनी, परन्तु उसको कोई निश्चय नहीं हुआ। गीतामें धृतराष्ट्रका एक ही श्लोक है, जिसमें उसका प्रश्न है—'किमकुर्वत सञ्जय:'। परन्तु गीता सुननेके बाद धृतराष्ट्रके मनमें क्या प्रतिक्रिया हुई, वह किस निश्चयपर पहुँचा इसका कोई उल्लेख नहीं है। क्या धृतराष्ट्रको भी ज्ञान हो गया? नहीं, इसका कुछ पता नहीं, यही मानना पड़ेगा कि उसको ज्ञान नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? इसलिए कि उसने मोह-ममतासे अन्धा होकर संसारको पकड़ रखा है। यही उसके नामका अर्थ है। धृत माने पकड़ा हुआ और राष्ट्र माने संसार। उसने दुनियाको इतने जोरसे, इतनी आसक्तिसे, इतना मोहग्रस्त होकर पकड़ रखा है कि उसको कितना भी उपदेश मिले, साक्षात् भगवान्का उपदेश मिले या जीवन्मुक्त महापुरुष सञ्जयके मुखसे मिले, धृतराष्ट्रपर प्रभाव पड़नेवाला नहीं।

सञ्जय कौन है? 'सम्यक् जयति'—जिसने भली-भाँति इन्द्रियों और मनपर विजय प्राप्त कर रखा है। उस सञ्जयके मुखसे गीता श्रवण करनेपर भी धृतराष्ट्रके मोहकी निवृत्ति नहीं हुई। जो मोह-ममता छोड़कर तत्त्वको ग्रहण करनेके लिए उद्यत होता है उसकी समझमें गीता आती है। धृतराष्ट्रकी मन:स्थिति तो ऐसी थी कि जब कोई उसको समझाता था, तब वह उत्तर देता था कि जो आप कहते हैं, वही मैं भी कहता हूँ, परन्तु अपने पुत्र-पौत्रोंके प्रति, परिवारके प्रति, धन-दौलतके प्रति, राज्यके प्रति मेरी इतनी ममता है कि मैं आपकी बात चाहनेपर भी नहीं मान पाता। इसीलिए कहते हैं कि धृतराष्ट्रपर गीताका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु सञ्जयने क्या निश्चय किया, यह देखो—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

सञ्जय कहता है कि श्रीकृष्णार्जुन-सम्वाद सुनकर मैं एक निश्चयपर पहुँच गया हूँ। 'मतिर्मम'—मेरा ऐसा निश्चय है कि गीता पौरुषका ग्रन्थ है। गीता आलसी बनानेवाला, निकम्मा बनानेवाला, कामनाके जालमें फँसानेवाला अथवा अहंकार-विमूढ़ बनानेवाला ग्रंथ नहीं है। जो लोग मोह-ममतामें फँसें हैं, जिनका व्यक्तिगत स्वार्थ है, जातिगत स्वार्थ है, दलगत स्वार्थ है, जिन्होंने अपने स्वार्थको परिच्छिन्न बना दिया है, विराट्से अपना सम्बन्ध काट दिया है, उनका पौरुष भी कट गया है, ईश्वर-विश्वास भी खण्डित हो गया है।

आप जो कुछ करते हैं, उसको ईश्वरके रूपमें, भगवान्के रूपमें अनुभव करते हैं या नहीं? आपकी कामनाओंका कोई ईश्वर है या नहीं? यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर है कि आपके मनमें पौरुषकी प्रेरणा देनेवाला ईश्वर है। पहले वही उकसाता है। उसके बाद भी उसको निभानेवाला तथा उसका फल देनेवाला ईश्वर ही है। इसलिए आप कोई भी काम करें तो देखें कि इसका प्रेरक आपकी वासना है या परमेश्वर है? इसका निर्वाहक संसारी प्राणी है, देवी-देवता है या परमेश्वर है? इसके फलदाता आपके जड़ कर्म हैं, कोई राजा-रईस है, कोई देवी-देवता है या साक्षात् परमेश्वर है? जब आप इन प्रश्नोंपर विचार करेंगे तो देखेंगे कि आपके कर्मोंके प्रारम्भमें परमेश्वर है, कर्मके बीचमें परमेश्वर है और कर्मके अन्तमें परमेश्वर है। इसीका नाम होगा 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः'। कृष्ण कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि आप ठीक ढंगसे यह नाम धारण करनेवाले हैं, तो भगवान् आपको अपनी ओर आकर्षित कर लेंगे। कृष्ण माने चुम्बक होता है। न मालूम हो तो आप

मालूम कर लें। मालूम हो तब तो कुछ कहनेकी बात ही नहीं। जो अपनी ओर खींचता है उसका नाम होता है कृष्ण। जो शुष्क और कठोर पड़े हुए हृदयके क्षेत्रको, खेतको जोतकर, उपदेशका बीज बोने लायक बना देता है, उसका नाम कृष्ण है।

कर्षति इति कृष्णः, कृषति इति कृष्णः।

अब आप देखो, वह चुम्बक आपको अपनी ओर खींच रहा है, आपके हृदयमें प्रीति जगा रहा है। वह आपको ही नहीं, समग्र विश्वसृष्टिको अपनी ओर खींचनेवाला चुम्बक है। वह स्वयं गीतामें कहते हैं—'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।' अर्थात् संसारके सब प्राणी मेरी ओर खिंच रहे हैं। इस खींचने-वालेका नाम है कृष्ण। आप इस कृष्णको देखो।

अब आप 'यत्र पार्थो धनुर्धरः 'पर ध्यान दो। पार्थ माने पृथाका कुन्तीका पुत्र श्रीकृष्णका फुफेरा भाई। पण्डित लोग पार्थका ऐसा अर्थ भी करते हैं—'पः परमेश्वरः, अर्थः प्रयोजनम् यस्य।' परमेश्वर ही जिसके जीवनके प्रयोजन हैं। पाणिनीय व्याकरणवाले कहते हैं कि 'अर्जुनात् अर्जुनः' जो अर्ज़न् करे, ज्ञानार्जन करे, धनार्जन करे, दिग्विजय करे उसका नाम अर्जुन। महाभारतके व्याख्याकार नीलकण्ठजी बोलते हैं—'ऋजुत्वात् अर्जुनः' जो ऋजु है, सरल है उसका नाम अर्जुन है।

उस अर्जुनने श्रीकृष्णको अपने कर्तव्यका स्वामी बनाया है। इसलिए श्रीकृष्ण उसको प्रेरणा दे रहे हैं कि लड़ो—'तस्माद्युध्यस्व भारत।' यह भी कह रहे हैं कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' और 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' इस प्रकार श्रीकृष्ण निर्वाह भी कर रहे हैं और फल भी दे रहे हैं अर्जुनको। और भी देखो—

युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।

'अर्जुन तुम युद्ध करो, तुम्हारी विजय निश्चित है। मैंने पहले ही तुम्हारे दुश्मनोंको मार दिया है। 'तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व'—इसलिए तुम केवल मेरे मारे हुओंको मारो, तुमको यश मिलेगा।' अर्जुन श्रीकृष्णका सखा है, नरका अवतार है, इन्द्रका अंश है, पाण्डव है, जीव है, उसके अनेक रूप हैं। ऐसे अर्जुनको कैसा होना चाहिए? 'धनुर्धरः' कर्म-परायण होना चाहिए। इसलिए आप भी अपने कर्तव्य-कर्मका परित्याग मत करो। जैसे अर्जुनके हाथोंमें धनुषबाण है वैसे ही तुम्हारे द्वारा भी कर्तव्यकर्मका पालन होते रहना चाहिए।

अब एक रहस्यकी बात सुनाता हूँ। रहस्य माने जो सबको मालूम नहीं, किसीको मालूम है किसीको नहीं। यह जो अर्जुनका, जीवका, नरका शरीर है इसमें दो तरहकी चीजें हैं, एक तो जो मालूम कराती हैं और एक जो कर्म कराती हैं। चलनेमें काम देता है पाँव और देखनेमें काम देती है आँख, तो आँख है ज्ञान-प्रधान और पाँव है कर्म-प्रधान। हाथ किसी चीजको पकड़कर लाता है, छातीसे सटा लेता है, मुँहमें ग्रास डाल लेता है। तो हाथ कर्म है और स्पर्श तथा रसास्वादन ज्ञान है। इस तरह मनुष्यका जीवन ज्ञान-कर्म-उभयात्मक है। इसमें कर्म भी है और साधन भी है—जैसे हाथसे पकड़ना, जीभसे बोलना और स्वाद लेना, कानसे सुनना, त्वचासे छूना, आँखसे देखना, पाँवसे चलना आदि। करने और जाननेके लिए कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय, दोनों तरहके उपकरण, औजार मनुष्यके शरीरमें मिले हुए हैं। मनुष्यका जो व्यावहारिक जीवन है, उसमें कर्म और ज्ञानका समुच्चय है। व्यावहारिक जीवनमें यदि कोई ज्ञान-ज्ञान बोलता है तो वह नशेमें आ गया है, वह अपने जीवनको नहीं देखता, ठोस पदार्थको नहीं देखता और यदि कोई जीवनमें कर्म-ही-कर्म देखता है तो वह मशीन हो गया है, यन्त्र हो गया है। जहाँ कर्म और ज्ञानका समन्वय है वहाँ मनुष्यका जीवन बिलकुल ठीक रहता है।

अत: आप अपना कर्तव्य कर्म कीजिये, अपनी उपासना कीजिये, अपना योग कीजिये, अपना श्रवण-मनन-निदिध्यासन कीजिये और धनुर्धारी होकर रहिये—'यत्र पार्थो धनुर्धरः' जीवको कैसा होना चाहिए कि, धनुर्धरः—अपना जो कर्तव्य कर्मरूप, भक्तिभावरूप, योगाभ्यासरूप श्रवण-मनन-निदिध्यासन-रूप धनुष-बाण है, उसको धारण करके बिलकुल तैयार रहे। ईश्वरका आश्रय हो और जीवका पौरुष, दोनोंका समन्वय-समुच्चय चाहिए।

यह ईश्वर और जीवमें शाश्वत मतभेद है। ईश्वर कहता है कि तुम पौरुष करोगे तब मिलूँगा और जीव कहता है कि तुम कृपा करोगे तभी मैं मिल सकूँगा, मेरे साधनमें कोई बल नहीं। जब ईश्वर अपनेमें कृपाका आरोप करे तो उसमें भी कृपालुताका अहंभाव हो जायेगा और जीव यदि अपनी साधनाका बल धारण करे तो उसमें भी साधनाका अभिमान हो जायगा। इसलिए ईश्वर तो अपनेको कृपालु नहीं मानता, भक्त उसको कृपालु मानता है और भक्त अपनेको पौरुषवाला नहीं मानता, ईश्वर उसको पौरुषवाला मानता है, बनाता है। इसलिए यह जीवन ज्ञान और कर्मका, ज्ञान और भक्तिका, ज्ञान और योगाभ्यासका, ज्ञान और श्रवण-मनन-

निदिध्यासनका समन्वय है। इसलिए दोनों एक साथ चलें और अन्तमें लक्ष्यका वेधन करें—

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।

मुण्डक २.२.४

भगवान्‌की ओर चलनेका उपाय यह है कि हम निकम्मे भी न हों और भगवान्‌की कृपाका अनुभव भी करते चलें। शिष्यने कहा—'गुरुजी, कृपा आपकी।' गुरुने कहा—'नहीं बेटा, साधन तुम्हारा।' कृपालुताका अभिमान गुरुमें नहीं और अपने पौरुषका अभिमान शिष्यमें नहीं। यदि जीव पौरुषका अभिमान करेगा तो मारा जायगा और यदि भगवान् कृपालुताका अभिमान करेगा तो उसका व्यक्तित्व बन जायगा, व्यक्तित्ववाला ईश्वर हो जायगा। इसलिए परमेश्वरके मार्गमें चलनेके लिए सञ्जयकी दृष्टि चाहिए।

'तत्र श्रीर्विजयो भूतिः' जहाँ ऐसी दृष्टि होती है, वहाँ आती हैं भगवती श्री। जीवनमें एक रौनक आजाती है। मुखपर एक विशेष प्रभा आजाती है। स्वयं लक्ष्मीजी विद्या बनकर, सम्पत्ति बनकर हृदयमें निवास करती हैं। माँ आती है, प्रभा आती है, शोभा आती है, लक्ष्मी आती है। काम, क्रोध आदि शत्रुओंपर विजय होती है, वैभवकी प्राप्ति होती है। 'ध्रुवा नीतिः'—वहाँ ध्रुव अर्थात् शाश्वत नीति आकर रहती है।

सञ्जयने समग्र गीताका श्रवण करके यह निश्चय किया कि जीवको अपने पौरुषसे कभी च्युत नहीं होना चाहिए और प्रेरणा, निर्वाह तथा फल—इन तीनोंको ईश्वरकी ओरसे आता हुआ देखना चाहिए। आपको भी कर्म करते समय अपने ऊपर ऐसी ही अन्तर्दृष्टि रखनी चाहिए। भगवान् भक्तसे क्या अपेक्षा रखते हैं, आप गीतामें देखिये—

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

भगवान्‌की पहली शर्त है—'मत्कर्मकृत्' अर्थात् मेरे लिए कर्म करो। इसपर विचार करनेके पहले मैं आपको एक उदाहरण देना चाहता हूँ। कुछ दिन पहले मैं एक शहरमें गया। वहाँके मेयर स्टेशनपर आये। हम एक साथ मोटरमें बैठे तो मैंने पूछा कि आपके नगरका क्या हाल-चाल है? काम-काज कैसा चल रहा है? मेयर बोले कि महाराज क्या बताऊँ? हमारे यहाँ जितने भी मेम्बर हैं, सब अपने-अपने मुहल्ले तक ही सीमित रहते हैं। कहते हैं कि हमारी गलीका पनाला ठीक हो जाना

चाहिए, हमारी गलीमें नल लग जाना चाहिए। पूरे शहरकी भलाईकी दृष्टिसे कभी कोई बात करता ही नहीं। लेकिन भाई यह समस्या केवल उस नगर-निगम तक ही सीमित नहीं। आप भी देखिये कि आप जो कर्म करते हैं, वह किसलिए करते हैं? अपने घर-घरौंदेके लिए या सारे नगरके लिए या सारे प्रान्तके लिए या सारे राष्ट्रके लिए या सम्पूर्ण विश्वके लिए?

जब भगवान् कहते हैं कि 'मत्कर्मकृत्' तो इसका अर्थ हुआ ईश्वरमें सर्वरूप। इसको अर्जुनने पहचान लिया और तभी उसने विराट् रूपके दर्शन किये। विराट् रूप देखनेका यही मतलब होता है कि दृष्टि व्यापक हो जाये। अर्जुनको भगवान्ने भी विराट् रूप देखनेके लिए दिव्य दृष्टि दे दी। एक बार उत्तङ्कने भी देखा। उत्तङ्कको भ्रम था, वे श्रीकृष्णके ऊपर बड़े क्रोधमें आ गये। उनके क्रोधका निवारण करनेके लिए भगवान्ने उनको विराट् रूप दिखा दिया। कौरव भी उनको बाँधना चाहते थे, इसीलिए उनको विराट् रूप दिखाया और अन्धे धृतराष्ट्रको भी आँख दे दी कि तुम भी देखलो हमारा विराट् रूप। भगवान्ने यशोदा मैयाको भी दो बार विराट् रूप दिखाया, लेकिन वहाँ तो मैयाका वात्सल्य था और भगवान् स्वयं उस वात्सल्यरसका आस्वादन कर रहे थे।

जब आप भगवान्के विराट् रूपपर दृष्टि डालेंगे, तब आपके कर्मका दृष्टिकोण बदल जायेगा। गीता आपके कर्मके दृष्टिकोणको बदलती है। आप व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए नहीं, समग्र विराट्के सुखके लिए, शान्तिके लिए, स्वार्थके लिए काम करो। इसका अर्थ हुआ कि आप काम करते समय इस बातका ध्यान रखो कि जो सबकी अन्तरात्मा परमात्मा है, उसकी प्रसन्नताके लिए हम काम कर रहे हैं; केवल अपने अन्तःकरणके सुख-स्वार्थके लिए नहीं। यदि कहो कि हम यह कैसे देख सकते हैं कि दुनियामें हमारे कर्मसे किसीका नुकसान या किसीका अहित तो नहीं हो रहा है? आप यह देखिये ही मत, आप तो यह देखिये कि कर्म करते समय आपके मनमें किसीको नुकसान पहुँचानेकी नीयत तो नहीं है। माना कि आप सारी दुनियाको नहीं देख सकते, लेकिन आप अपने अन्तःकरणको तो देख ही सकते हैं। यह तो अनुभव कर ही सकते हैं कि आप नर हैं और आपके हृदयमें नारायणका निवास है। आपको यह बात पहले भी बतायी जा चुकी है कि 'नरस्य इदं नारम् हृदयं, तदेव अयनं यस्य असौ नारायणः'—नरके हृदयका नाम है नार और नारमें अर्थात् नरके हृदयमें जो निवास करता है, उसका नाम होता है नारायण। इसलिए आप अपने हृदयमें रहनेवाले नारायणकी ओर देखिये और कर्म

करते समय यह सोचिये कि कहीं वे नाराज तो नहीं हो रहे हैं। इस प्रसङ्गमें मनुजीने मनुस्मृतिमें बहुत बढ़िया लिखा है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेद् अविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून्॥ (८.९२)

बाबा, तुम्हारे हृदयमें भगवान् बैठे हुए हैं। तुम जब अपनी नजरमें अपराधी बन जाते हो और कहते हो कि हाँ, हमने हिंसा की, चोरी की, अनाचार-व्यभिचार किया, बेईमानी की और ऐसा करके खुश होते हो, तो अपने आत्माके साथ एक विवाद ठान लेते हो। यदि आत्माके साथ तुम्हारा मतभेद नहीं है तो गङ्गा-यमुना और कुरुक्षेत्र नहानेकी कोई जरूरत नहीं है। यदि तुम अपनी नजरमें अपनेको नीचा गिरा रहे हो तो दुनिया तुमको चाहे जितना ऊँचा समझे और कहे कि तुम बड़ी ऊँची कुर्सीपर बैठे हो, तो तुमको कोई नहीं उठा सकता। इस सम्बन्धमें मनुजीने बहुत बढ़िया कहा है—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥ (४.१६१)

कर्म करते समय देखो कि क्या ईश्वर तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं? ईमानदारीसे इसकी जाँच करो कि क्या तुम अपना काम करके प्रसन्न हो? यदि तुम्हारी नजरमें तुम्हारा काम बिलकुल ठीक है तो तुम्हें प्रसाद मिलेगा, प्रसन्नता मिलेगी और तुम्हारे अन्तःकरणमें बैठा हुआ परमेश्वर भी प्रसन्न होगा। ईश्वरने अपनी प्रसन्नताके लिए कोई कुटिया नहीं बनायी, कोई घर नहीं बनाया, कोई लोक नहीं बनाया। उसने तो तुम्हारे अन्तःकरणको ही अपना निवासस्थान बना रखा है। इसलिए जब तुम प्रसन्न होते हो तब वह वहीं प्रसन्न होता है और जब तुम ग्लानि करते हो तो उसको भी ग्लानि भोगनी पड़ती है।

इसलिए अपने कर्मका, कर्तव्यका निश्चय करते समय सर्वात्मा भगवान्‌के वचन 'मत्कर्मकृत्'का ध्यान रखो। मतलब यह कि तुम ईश्वरके लिए कर्म करो और ईश्वरकी भक्ति करो। तुम्हारे हृदयमें ईश्वरकी भक्ति आते ही उसमें अनन्त ज्ञानका प्रकाश हो जायेगा, तुम्हारी बुद्धि ऐसी स्वच्छ और निर्मल हो जायेगी कि तुम्हें सब कुछ अपने आप ही सूझने लग जायेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ६ :

'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्'—एक ही शास्त्र है गीता, जिसका देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने गान किया है। इसमें सारे शास्त्र भरे हुए हैं—'सर्वशास्त्रमयी गीता। भगवान्ने आनन्दमें, उल्लासमें, अपने मित्रके हितभावमें भरकर लोगोंके कल्याणके लिए यह गीता गायी। भगवान्को तो कोई बहाना चाहिए कि जिससे वे अपने हृदयकी करुणाको, ज्ञानको, प्रेमको लोगोंके ऊपर बरस दें। जैसे गाय बछड़ेको निमित्त बनाकर दूध देती है और वह दूध केवल बछड़ेके लिए ही नहीं होता, सबके लिए होता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर केवल अर्जुनके लिए ही नहीं, सबके हितके लिए गीताका उपदेश किया। कौषीतकी उपनिषद् (३.१)में इस भावका वाक्य आता है कि 'यदेव हिततमं तदेव मे ब्रूहि'—जो हिततम है, वही हमको बताइये। वही हिततम भाव भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके प्रति प्रकट करते हैं।

देखो, वेदान्ती लोग जो ज्ञान-भक्तिका समन्वय करते हैं, उसका प्रकार थोड़ा दूसरा होता है। आत्मा ब्रह्म है, उसको न जानना अज्ञान है। ज्ञानके साथ पहले कर्मयोगका, फिर भक्तियोगका और फिर अष्टाङ्ग योगका समन्वय होता है। वहाँ कर्म, भक्ति और योग द्वारा शुद्ध अन्तःकरणमें ही तत्त्वज्ञानका प्रकाश होता है। वेदान्तका उपदेश, जो सचमुच सत्त्वको जानना चाहता है, उसके लिए होता है।

परन्तु ऐसे जिज्ञासुओंकी संख्या बहुत थोड़ी होती है। इसलिए हम लोगोंके व्यवहारमें भक्ति और ज्ञानके समन्वयका अर्थ दूसरा होता है। यहाँ भक्ति और ज्ञानके समन्वयका तात्पर्य है बुद्धि और मनका व्यवहारमें समन्वय। मनमें भक्ति रहती है और बुद्धिमें ज्ञान रहता है।

देखो, हमारा जो जीवन है, वह थोड़ा समझनेकी वस्तु है। यह एक ज्वलन्त प्रश्न है कि हमारा मन और हमारी बुद्धि दोनों मिले रहते हैं या दोनोंमें लड़ाई रहती है? यदि दोनों मिले रहते हैं तो बुद्धि मनके साथ मिलती है या मन बुद्धिके साथ मिलता है? इसका उत्तर एक उदाहरणसे मिल जायेगा। एक सज्जन इस बातके लिए दु:ख प्रकट कर रहे थे कि हमारे घरमें रोज हमारी पत्नीसे लड़ाई होती है। इसपर दूसरे सज्जनने कहा कि हमारा व्याह हुए पच्चीस बरस हो गये, लेकिन आजतक हमारी पत्नीसे लड़ाई नहीं हुई। अब पहले सज्जनने पूछा कि भाई, तुम्हारे पास ऐसी क्या युक्ति है? दूसरे सज्जन बोले कि पत्नी जो कहती है, वह मैं मान लेता हूँ।

अब इस उदाहरणको पृष्ठभूमि बनाकर अपने जीवनमें देखें कि पहले आपका मन करता है और फिर उसके पीछे आपकी बुद्धि चलती है या पहले आपकी बुद्धि चलती है और फिर उसके पीछे आपका मन चलता है? दोनोंमें समन्वय अर्थात् मेल-मिलाप होना आवश्यक है। भागवतमें एक कथा आती है। एक राजाने अपने शत्रुपर विजय प्राप्त की और उसकी लड़की लेकर जब महलमें पहुँचा तो रानीने पूछा कि अरे ओ कपटी! मेरी जगहपर यह कौन लड़की बैठी है? राजा बोला कि यह तुम्हारी पुत्रवधू है। रानी बोली कि हमारे तो कोई पुत्र ही नहीं है तो पुत्रवधू कहाँसे होगी? राजाने कहा कि आगे हमारा जो पुत्र होगा, उसके साथ विवाह करेंगे इसका। इसपर टीकाकार लिखते हैं कि सृष्टिमें इतना बड़ा पत्नीभक्त और कोई नहीं हुआ है। देवताओंने आपसमें कहा कि, 'भाई देखो कोई पत्नीभक्त हो तो ऐसा हो। आओ, इसकी बात पूरी कर दें।' अब रानीको पुत्र हो गया, वह जवान भी बन गया और दोनोंकी शादी भी हो गयी। यह कथा भागवतके नवम स्कन्धमें शैव्याके प्रसंगकी है।

इसलिए आप अपने मनमें देखें कि आपके जीवनमें कौन आगे है और कौन पीछे है? जब विवाहमें भाँवरें पड़ती हैं तब अग्निकी सात परिक्रमाएँ होती हैं। उनमें चार परिक्रमाओंमें वधू आगे-आगे चलती है, और तीन परिक्रमाओंमें वर आगे-आगे चलता है। इस तरह सातमें-से चार वधूकी अगवानीमें होती हैं और तीन

वरकी अगवानीमें। परिक्रमाओंकी संख्या वधूकी ही अधिक रहती हैं। बहुमत उसका रहता है।

इधर हमारे जीवनमें क्या होता है? हम कहीं बाजारमें जाते हैं तो आँखें देखती हैं कि अमुक स्त्री बहुत सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहने हुए जा रही है, अमुककी मोटर बहुत अच्छी है, अमुककी घड़ी बहुत अच्छी है। आँखोंकी क्रिया पूरी होनेपर मनमें इच्छा होती है कि ये चीजें हमको भी मिलनी चाहिए। लेकिन मिले कैसे? पैसा होगा तो खरीद लेंगे, न हो तो कहीं चोरी-बेइमानीसे पैसा पैदा करेंगे और जैसे-तैसे इनको खरीदेंगे। इस प्रकार आगे-आगे हमारी इन्द्रियाँ चलती हैं, इन्द्रियोंके पीछे मन चलता है और मनके पीछे बुद्धि चलती है। फिर मनुष्य कहाँ पहुँच जाता है? गीताका कहना है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यकी प्रज्ञा मनमें चली जाती है, मन इन्द्रियोंमें चला जाता है और इन्द्रियाँ खड्डेमें गिर जाती हैं।

समन्वयकी प्रक्रिया यह है कि आपका आचरण बुद्धि संगत हो। पहले आपके मनमें ज्ञान हो, ज्ञानके अनुसार संकल्प हो और संकल्पके अनुसार क्रिया हो। पहले समझ लीजिये, समझनेके बाद यह देखिये कि आप जो चाहते हैं, वह चाहने योग्य है, पाने योग्य है या छोड़ने योग्य है। बुद्धिसे पहले निश्चय कर लीजिये, छोड़ना हो तो छोड़ दीजिये, पाने लायक हो तो उसे पानेका संकल्प कीजिये और संकल्पके बाद उसको पानेका प्रयत्न कीजिये। 'जानाति, इच्छति, करोति'—यह हमारे न्यायशास्त्रकी प्रक्रिया है, शैली है, ढंग है कि पहले हमारी बुद्धि कहे, हमारा ज्ञान कहे कि यह ठीक है, फिर उसके लिए इच्छा हो और इच्छाके अनुसार प्रयत्न हो। जब इस बातको भूल जाते हैं, इन्द्रियोंकी आँखोंसे चलते हैं, बुद्धिकी आँखसे नहीं चलते तब इन्द्रियाँ तो अन्धी हैं ही, मनुष्यको पतनके गहरे गर्तमें गिरा देती हैं।

यह बात आपको बतायी जा चुकी है कि गीताके कथनानुसार आपके इन्द्रिय, मन और बुद्धि—इन तीनोंमें कामका निवास होता है—

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनाम्॥

माने लो कि किसी आदमीके पास बहुत अच्छा रथ हो, बहुत अच्छे घोड़े हों, बहुत अच्छी बागडोर हो, अच्छा सारथि भी हो और वह समझता हो कि ऐसे बढ़िया रथपर सवार होकर अपने शत्रुपर अवश्य विजय प्राप्त कर लेगा, लेकिन यदि रथ और उसका सारथि उसके वशमें न हों तो क्या होगा? कहा जाता है कि जब औरंगजेबको पहली बार हाथीपर बैठाया गया तब उसने कहा कि इसका लगाम हमारे हाथमें दे दो। लेकिन पीलवानके यह बतानेपर कि जहाँपनाह हाथीके लगाम नहीं लगायी जाती, यह अंकुशसे चलता है, औरंगजेबको तसल्ली नहीं हुई और वह हाथीसे कूद पड़ा, यह कहता हुआ कि जिस हाथीकी लगाम अपने हाथमें नहीं है, उसपर क्या बैठना?

होता यह है कि हमारा कामरूप शत्रु हमारे शरीररूप रथको, हमारे मनरूप घोड़ोंको, हमारे सारथिरूप बुद्धिको अपने वशमें कर लेता है और उसके परिणामस्वरूप हम अपने गन्तव्यतक पहुँचनेमें असफल रह जाते हैं। इसलिए हमें यह देखते रहना चाहिए कि हम अपनी इन्द्रियोंको कहीं जानेसे रोक पाते हैं या नहीं? अपने मनको किसी संकल्पसे मुक्त कर पाते हैं या नहीं? आपकी बुद्धि आपकी इन्द्रियोंकी माँग और आपके मनकी आसक्तिसे बचकर जीवनके तथ्योंका, सत्योंका विवेचन कर पाती है या नहीं?

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

आप सुख-शान्ति प्राप्त करना चाहते हो तो आपके जीवनकी शैली ऐसी होनी चाहिए कि बुद्धि आगे हो और आसक्ति पीछे हो। 'विधेयात्मा'—मन हमारा आज्ञाकारी होना चाहिए और इन्द्रियोंपर हमारा नियन्त्रण होना चाहिए। हमने श्रीहरिबाबाजी महाराजको देखा कि वे प्रतिदिन ठीक समयपर टहलनेके लिए निकलते। निकलते समय एक हाथ छातीपर रख लेते और मीलों टहलनेके बाद जब लौटते तो उनका हाथ जहाँ-का-तहाँ होता। आँखोंपर इतना नियन्त्रण कि

रास्तेमें दाहिने-बायें नहीं देखते और जो आदमी आगे-आगे चलता, उसके पीछे-पीछे चलते जाते। इस प्रकार हमारे मनको आज्ञाकारी होना चाहिए, हमें मनका आज्ञाकारी नहीं होना चाहिए।

समन्वय सम् और अन्वयकी सन्धिसे बना है। सम् माने सम्यक्, भली भाँति और अन्वय माने अनुगति, अनुसरण। अन्वयमें भी दो शब्द हैं—अनु और अय। अनु माने पीछे और अय माने चलना। मतलब यह कि हमारे मनमें सम्यक् अनुगतित्व होना चाहिए। आनुगत्य होना चाहिए बुद्धिके पीछे।

असलमें हमारा मनके प्रति बहुत पक्षपात है और इसीलिए इसने हमारे जीवनको बहुत दु:खी कर रखा है। हम जानते हैं कि सत्य बोलना उचित है, धर्म है, कर्तव्य है, अन्त:करणका शोधक है और परमात्माको प्रसन्न करनेवाला है। हमारी बुद्धि यह खूब समझती है किन्तु फिर भी हम असत्य बोलते हैं—इसका कारण क्या है? यही कारण है कि हमारा मन हमारी बुद्धिका साथ नहीं देता। वह कहता है—निस्सन्देह सत्य ही धर्म है, सत्य ही सन्मार्ग है, सत्यसे ही अन्त:करण शुद्ध होता है और सत्यसे ही परमात्मा प्रसन्न होता है, लेकिन यहाँ यदि हम सत्य बोलेंगे तो भोगकी प्राप्ति करानेवाला पैसा नहीं मिलेगा, हमारे भोगमें रुकावट डालनेवाला दुश्मन नहीं मरेगा, हमारे सुखमें बाधा पड़ जायेगी। इस तरह हमें मन देता है सुखकी लालच और फिर हम बुद्धिका साथ छोड़कर मनकी ओर चल पड़ते हैं। हमारी बुद्धिको मालूम है कि सुख ब्रह्मचर्यमें है, पर जब हमारा मन कहता है कि यहाँ ब्रह्मचर्य-भङ्ग करनेसे सुख होगा तब हम ब्रह्मचर्य-भङ्ग कर देते हैं। हम जानते हैं कि ईमानदारी बढ़िया चीज है, परन्तु जब मन कहता है कि यहाँ बेइमानी करनेसे सुख मिलेगा तब हम बेइमानीके पक्षमें हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि हमारे मनमें सत्यका पक्षपात कम है और सुखका पक्षपात ज्यादा है अर्थात् हम अपनी जानकारीका तिरस्कार करते हैं और अपने मनकी आसक्तिका आदर करते हैं। हम ज्ञानके पक्षमें नहीं जाते, सुखके पक्षमें चले जाते हैं।

हमारे जीवनमें एक होती है वासना और दूसरा होता है विचार। हमें देखना चाहिए कि हमारा जीवन वासनाके पक्षमें चल रहा है या विचारके पक्षमें चल रहा है? इन दोनोंमें झगड़ा नहीं होना चाहिए। विचारके अनुसार ही जीवन चलाना चाहिए। जबतक हमारा सुख हमें बेईमानीकी ओर, व्यभिचारकी ओर, हिंसाकी ओर, झूठकी ओर खींचेगा, तबतक हमारी बुद्धि डावाँडोल होती रहेगी। हम अपने

आदरणीयकी, गुरुकी, शास्त्रकी और समुदायकी अवज्ञा करके मनमाना काम करते हैं, बुरे काम करते हैं। इसका कारण यही है कि हम मनके वशमें हो गये हैं और हमारी बुद्धिका, ज्ञानका तिरस्कार हो गया है। इसलिए हमारे जीवनमें विचार और मनका समन्वय होना चाहिए।

यदि आप अपने ज्ञान-देवताका आदर करेंगे तो इनका स्वभाव ऐसा है कि ये आपको समयपर रोशनी देंगे, प्रकाश देंगे और बतायेंगे कि यह ठीक है, यह गलत है। लेकिन इनके बार-बार बतानेपर भी यदि आप बार-बार इनकी बात नहीं मानेंगे तो अपने तिरस्कारका अनुभव करेंगे और फिर आपको सच्चा रास्ता बताना बन्द कर देंगे। फिर तो आप आसक्तिके रास्तेमें भटक जायेंगे। इसीलिए आपका मन आपकी बुद्धिके, आपके ज्ञानके अनुसार चलना चाहिए।

इसका उपाय यही है कि पहले आप बुद्धिसे भगवान्‌के स्वरूपोंको समझें और मनसे उनके प्रति प्रेम करें, बुद्धिसे धर्मको समझें और फिर मनसे श्रद्धापूर्वक उसका अनुष्ठान करें, बुद्धिसे समाधिको समझें फिर अभ्यासके द्वारा समाधि उत्पन्न करें और बुद्धिसे ब्रह्म एवं आत्माका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें और फिर उसमें निष्ठावान् हो जायें। विचारके बिना, ज्ञानके बिना हमारी जो अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति है, वह दु:ख देनेवाली है।

एक बात और है और वह यह कि बुद्धिका भी माप है। पर उससे आप देख सकते हो कि आपकी बुद्धि सही है या गलत। मुझे बचपनमें एक महापुरुषने बताया था—तुम यह देखो कि तुम्हारी बुद्धि किसका पक्ष ले रही है? पौरुषका या आलस्यका? अनाचारका या सदाचारका? यदि तुम्हारी बुद्धि आलस्यके पक्षमें जा रही है तो तमोगुणी हो जायगी, अनाचारके पक्षमें जा रही है तो तुमको धोखा देगी। आलस्यमें कभी सत्यका साक्षात्कार नहीं होता, अनाचारमें कभी सच्चा पुरुष नहीं मिल सकता। इसलिए अपने मनको ज्ञानके अनुसार चलानेका अभ्यास करो।

आपने महान् दार्शनिक प्लेटोका नाम सुना होगा। उनके गुरु थे सेकरेटीज उनको हमलोग सुकरात बोलते हैं। उनका ऐसा विचार था कि यदि मनुष्यको ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो वह आसक्तिके कारण गलत रास्तेपर नहीं जा सकता। उन्होंने इसका एक दृष्टान्त दिया है। किसी आदमीके सामने बढ़िया भोजन बनाकर परस दिया गया। उसकी जीभमें पानी भर आया, भोज्य पदार्थोंकी सजावट देखकर खुश हो गया और वह समझने लगा कि यह भोजन हमारे

स्वास्थ्यके लिए भी बहुत बढ़िया है। इतनेमें उसका पुत्र दौड़ता हुआ आया और बोला कि पिताजी भोजन मत कीजिये, इसमें जहर मिला हुआ है। यह सुनते ही उस आदमीका हाथ रुक गया। अभी क्षणभर पहले ही उसकी जीभ कह रही थी कि भोजन करो, नाक कह रही थी कि उसमें बहुत सुगन्ध है, आँख कह रही थी कि देखनेमें बहुत बढ़िया है और बुद्धि कह रही थी कि इसको खाकर हम स्वस्थ हो जायेंगे। लेकिन एक बच्चेके यह जानकारी देते ही कि इसमें विष है, उसका हाथ अपने-आप रुक गया। इसलिए जहाँ हम ज्ञानके विरुद्ध आचरण करते हैं, वहाँ हमारा ज्ञान कच्चा है। यदि हमारा ज्ञान सच्चा हो तो हम उसके विपरीत कभी आचरण नहीं कर सकते हैं।

कुछ ऐसी बातें हैं, जो हमारी बुद्धिमें बाधक या साधक होती हैं। बाधक बातें हमारी बुद्धिको नाशकी ओर ले जानेवाली होती है और साधक बातें हमारी बुद्धिको उत्तम दिशाकी ओर ले जाती हैं डावाँडोल नहीं होने देती।

अब देखिये बाधक बातें क्या हैं और साधक बातें क्या हैं? पहले बाधक बातोंको देखिये—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

गीताने ऐसी आठ बातें बतायी हैं, जो हमारी बुद्धिको भ्रष्ट तो करती हैं, हमारा भी सत्यानाश कर देती हैं। पहले हम जान-बूझकर विषय-भोगोंका चिन्तन करते हैं। फिर जिसका ध्यान करते हैं, वह चीज हमारे पास आजाती है या हम उसके पास पहुँच जाते हैं। 'ध्यानिकं सर्वमेवैतत्' (मनु० ६.८२) धनीके पास धन कब आयेगा? जब वह धनका ध्यान करेगा। आजकल बम्बई आदि नगरोंमें जब सबेरे-सबेरे फोनकी घंटी बजती है, तब क्या सुनाई पड़ता है? यही कि थारी के धारणा है जी? उनकी ध्यान-धारणा धनमें होती है। वे धनकी धारणा करते हैं, धनका ध्यान करते हैं, फिर धन उनके पास आता है।

'ध्यायतो विषयान् पुंसः'—जब हम जान-बूझकर संसारके विषय-भोगोंका ध्यान और उनकी धारणा करते हैं तो या तो हम खिंचकर उनके पास पहुँच जाते हैं या वे हमारे पास आजाते हैं। इसमें बलवत्ताकी बात प्रधान होती है, विषय-भोग

बली होगा तो आपको खींच लेगा या आप बली होंगे तो विषयभोगोंसे अपनेको खींच लेंगे—बचा लेंगे।

'सङ्गस्तेषूपजायते'—जब विषयोंका सङ्ग प्राप्त होता है तब यह कामना होती है कि यह हमारा हो जाये, हम इसका भोग करें और यदि एक बार कामना पूरी हो जाये तो और-और कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनका नाम लोभ है। लोभ कामनाके अन्तर्गत ही है। 'कामात्क्रोधोऽभिजायते'—यदि कामना या लोभमें विघ्न पड़ जाये तो क्रोध आता है। 'क्रोधाद्भवति संमोह:'—जब क्रोध आता है तब मनुष्यको सम्मोह हो जाता है और वह अपना कर्त्तव्य भूल जाता है। 'सम्मोहात् स्मृतिविभ्रम:'—जब कर्तव्य भूल जाता है तब इस समय क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, यह याद नहीं आता। 'स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाश:'—जब याद नहीं रहता तब उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, अपनी जगहसे च्युत हो जाती है। जहाँ बुद्धिको रहना चाहिए, वहाँ नहीं रहती। और अन्तमें, 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'—जब बुद्धिका नाश हो जाता है, तब मनुष्यका विनाश हो जाता है।

अब देखो, जहाँ बुद्धि नहीं है, वहाँ क्या है? बुद्धिकी उपाधिसे ही मनुष्य-मनुष्य कहलाता है। बुद्धिमान् होनेपर ही मनुष्य अपनेको अन्य प्राणियोंसे श्रेष्ठ कह सकता है। मनुष्य-जैसी बुद्धि अन्य किसी भी प्राणीमें नहीं है। पशु-पक्षियोंको देखो, वे हजारों-लाखों साल पहले जैसे रहते थे, वैसे ही आज भी रहते हैं। जैसे पहले घोंसले बनाते थे, वैसे ही आज भी बनाते हैं, जैसा पहले भोजन करते थे, वैसा ही आज भी करते हैं। लेकिन मनुष्यने अपनी बुद्धिमत्ताके कारण कितनी प्रगति कर ली? कपड़ेकी मशीनें लग गयीं, रेलगाड़ियाँ बन गयीं, मोटरें बन गयीं, हवाई-जहाज बन गये। अभी न जाने और क्या-क्या आविष्कार होंगे? क्योंकि अपनी प्रतिभाके कारण नये-नये आविष्कार करनेमें समर्थ हैं।

आपको आश्चर्य होगा उन सम्भावनाओंपर, जिनको वास्तविक बनानेके लिए वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं। कहा जाता है कि शरीरके किसी दूसरे हिस्सेमें भी आँख बनायी जा सकती है; शरीरमें जहाँ कहीं भी नेत्रेन्द्रियकी ज्योति जगा दी जा सकती है। इसी तरह सुननेके लिए कान, और साँस लेनेके लिए नाक भी दूसरी जगह बनायी जा सकती है। भोजनको तो डाक्टर लोग नसोंके द्वारा भेज देते हैं। आगे चलकर एक ऐसा स्थायी छिद्र बनाया जा सकता है, जिसमें भोजन डालने

पर पचता हुआ शरीरमें चला जायेगा। मनुष्य तो अभी अपने अविष्कार-कौशलसे केवल चन्द्रमापर गया है, आगे चलकर शुक्र और मंगलपर भी जानेकी तैयारी कर रहा है। उसने मिनटोंमें ही सारे संसारका संहार कर देनेके साधन तैयार कर लिये हैं।

आपने ध्यान दिया है कि आपके होठोंपर जो मुस्कान है और आँखोंमें जो प्यार है, वह अन्य किसी प्राणीमें है? आपमें सत्का उद्रेक कर्मकी शक्ति है, चित्का उद्रेक बुद्धिकी शक्ति है और आनन्दका उद्रेक आनन्दकी शक्ति है। आपका यह हास-परिहास, अट्टाहस, यह हसन-विहसन-प्रहसन इस संसारमें आपके सिवाय अन्य किसी प्राणीमें है? यह सब आपकी बुद्धिका चमत्कार है। बुद्धि ही मनुष्यकी विशेष पूँजी है।

उस बुद्धिको जब हम खो बैठते हैं तब क्या होता है? हमारे कर्म भी बिगड़ जाते हैं और हमारे आनन्दमें भी बाधा होती है। बुद्धिकी उपाधिसे ही हमारे कर्म अच्छी तरह सम्पन्न होते हैं और बुद्धिकी उपाधिसे हमारे आनन्दका उद्रेक होता है। जब हम और ज्ञानको खो बैठेंगे तो प्रेम किससे करेंगे। गधे गायके प्रेमका विवेक कैसे करेंगे? वेश्या और सत्पुरुषके प्रेमका विवेक कैसे करेंगे? फिर चोरी और दानमें फर्क कैसे हो सकेगा? इसलिए गीता कहती है कि 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'—बुद्धिका नाश हो जानेपर मनुष्यका विनाश निश्चित है।

हम आपको यह बता चुके हैं कि गीतामें बुद्धिका जो इतना आदर है संसारके सब सम्प्रदायोंसे विलक्षण है। दुनियामें कौन मजहब है, जो मनुष्यकी बुद्धिका इतना अधिक सम्मान करता हो? दूसरे सम्प्रदाय या मजहबवाले कहते हैं कि देखो हमारे अनुसार चलो, चाहे तुम्हारी समझमें आये या न आये, नहीं तो तुम कुफ्र करोगे, काफिर करार दे दिये जाओये; किन्तु गीता कहती है कि बाबा, किसी भी हालतमें अपनी बुद्धि मत खोना—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'। यदि बुद्धिकी शरण लोगे तो पाप और पुण्य दोनोंसे मुक्त हो जाओगे। तुमको बाँधता पाप भी है और पुण्य भी है। पाप नरककी ओर ले जाता है और पुण्य स्वर्गकी ओर ले जाता है। दोनों तुम्हें बाँधकर ले जाते हैं। इसलिए गीता कहती है कि :

'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'

बुद्धियुक्त होनेपर तुम इसी जीवनमें पाप और पुण्य दोनोंसे छूट जाओगे।

'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः'

यदि तुम्हें सच्ची बुद्धि प्राप्त हो जाय तो तुम सुख-दुःख दोनोंसे मुक्त हो सकते हो। यदि तुम्हें बुद्धिकी प्राप्ति हो जाये तो यहीं समाधि लग जायेगी। यदि तुम्हें स्थिर बुद्धिकी प्राप्ति हो जाये तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी। यह है गीताका बुद्धिके प्रति समादर-सम्मान, जो अन्यत्र कहीं भी देखनेको नहीं मिलता।

अब देखो, गीताकी एक दूसरी बात। वह केवल डराती ही नहीं, आश्वासन भी देती है। एक ओर जहाँ यह कहती है कि—'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' वहीं दूसरी ओर यह भी कहती है कि **'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'** इसका तात्पर्य आप विनोदकी वाणीमें समझिये—मानो भगवान्‌ने कहा, अर्जुनने उत्तर दिया कि सुनाओ। भगवान् बोले कि मैं यह कह रहा हूँ कि तुम एक प्रतिज्ञा कर लो—'प्रतिजानीहि माने' 'प्रतिज्ञायस्व' अर्जुन बोले कि प्रतिज्ञा मुझसे क्यों करवाते हो, तुम्हीं कर लो न! भगवान् बोले कि 'बाबा! मैं प्रतिज्ञा तो कर लूँगा लेकिन आज तुम्हारे सामने प्रतिज्ञा करनेसे क्या, परसों-तरसों अपनी प्रतिज्ञा तोड़नेवाला हूँ। कल जब भीष्म पितामह तुमसे युद्ध करेंगे और तुम्हारे ऊपर बाणोंका घनघोर प्रहार करेंगे, तब मैं अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर तुम्हारी रक्षाके लिए चक्र उठाऊँगा। ऐसा मुझे भीष्मको इस प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिए करना पड़ेगा—

आजु जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननीको शान्तनु सुत न कहाऊँ।

भीष्मकी यह प्रतिज्ञा तो अटल होगी, उसके सामने मेरी प्रतिज्ञा टूट जायेगी। इसलिए आज यदि मैं तुमसे कोई प्रतिज्ञा कर लूँ तो परसों-नरसों प्रतिज्ञा टूटनेपर लोग कहने लगेंगे कि ये तो प्रतिज्ञाके पक्के नहीं हैं, झूठे हैं, प्रतिज्ञा करके तोड़ देते हैं। अतः तुम्हीं प्रतिज्ञा करो। अर्जुनने पूछा कि अच्छा, क्या प्रतिज्ञा करूँ महाराज? भगवान् बोले कि अपने मुँहसे बोलो—'न मद्भक्तः प्रणश्यति'—जो मेरा भक्त होगा, उसका नाश कभी नहीं होगा।

तो यह भगवान्‌की ही नहीं, भक्तकी भी प्रतिज्ञा है। भगवान् अपनी बात काट सकते हैं, परन्तु भक्तकी बात कभी नहीं काटते। भगवान् अपने अपराधको क्षमा कर देते हैं, परन्तु भक्तके अपराधको कभी क्षमा नहीं करते—

जो अपराध भक्त कर करई,
रामरोष पावक सो जरई।

अब जब यह निश्चित हो गया कि बुद्धि होनेपर नाश नहीं होता और बुद्धिनाश होनेपर सर्वनाश हो जाता है। तब उस सर्वनाशसे बचानेवाली दूसरी वस्तु कौन है? भक्ति है। सर्वनाशसे बुद्धि बचाती है, उसी तरह जिस तरह भक्ति बचाती है। एक बात आप नोट कर लीजिये और कभी मत भूलिये कि जब आपका ईश्वरसे मतभेद होता है, ईश्वर चाहता है कुछ, और आप चाहते हैं कुछ, तभी आपको कष्ट होता है। यदि आपकी राय ईश्वरकी रायमें मिल गयी, आपने बोल दिया कि 'जो थारी राय सो म्हारी राय'—प्रभो जो तुम्हारी इच्छा है, वह पूरी हो, तो आपको कभी दुःख नहीं होगा। यदि आपकी मति ईश्वरकी मतिसे मिलती होगी आपका ईश्वरके साथ मतभेद नहीं होगा तो आपके सामने दुःखका क्या काम है?

अब आप देखिये कि ईश्वरके साथ आपका मतभेद क्या है? यह समग्र विश्व प्रभुका विराट् रूप है और इसमें उन्हींकी बुद्धि काम कर रही है। जब आपकी बुद्धि सबकी भलाईके लिए, सबके हितके लिए, किसीको भी दुःख न पहुँचे इस दृष्टिसे काम करेगी समझिये कि वह ईश्वरसे मिली हुई है। विभीषण की शरणागतिमें यह बात है-

'सुख स्वारथ परिहरि करिहऊँ सोइ जेहि साहिबहिं सुहाऊँगो'

मैं अपना सुख छोड़कर, अपना स्वार्थ छोड़कर वह काम करूँगा, जिससे कि अपने साहबको, अपने मालिकको, अपने रामको अच्छा लगूँ।

इस तरह जब ईश्वरकी मतिसे आपकी मति मिली हुई है, आपकी मतिमें अहंकार नहीं है, उसका भगवान्से कोई भेद नहीं है, आपकी मतिका फल भी भगवदिच्छाके विपरीत नहीं है—फल भगवान्का दिया हुआ है, बुद्धि भगवान्की दी हुई है, अहंकार भी भगवान्का नियम्य हैं, तब भक्ति और ज्ञानका, मन और बुद्धिका समन्वय हो जायेगा।

ज्ञान साक्षात् भगवान् है और भक्ति ज्ञानकी अनुसारिणी ज्ञानानुसारिणी वृत्ति है। कश्मीरी शैवोंने प्रश्न उठाया है कि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, भक्ति क्या है? इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि थिरकते हुए ज्ञानका, उल्लसित ज्ञानका नाम भक्ति है। जब हमारा ज्ञान लहराता है, जब हमारा ज्ञान थिरकता है, जब हमारा ज्ञान नाचता है, जब हमारा ज्ञान रसमें परिप्लुत, रससे भरा हुआ होता है तो उस रस भरे ज्ञानका नाम भक्ति है। जहाँ ज्ञान और प्रीति, जानकारी और प्रेम, दोनों एक हो जाते

हैं वहाँ ज्ञानमें भक्ति गयी। भक्तिमें ज्ञान मिल गया और दोनों एक हो गये; ज्ञान भक्तिका समन्वय हो गया।

यहाँ मैं आपको सविषय ज्ञानके साथ भक्तिका समन्वय सुना रहा हूँ। मैंने पहले बता दिया है कि वेदान्तियोंके समन्वयका ढंग दूसरा है। वह समन्वय परमार्थ-बोधके लिए है और यह जो ज्ञान-भक्तिका समन्वय है, हमारी व्यावहारिक सिद्धिके लिए है। व्यवहारमें यदि मन और ज्ञान अलग-अलग होंगे तो आपका ब्लडप्रेशर बढ़ेगा। जब हमारी जानकारी तो कुछ और है, लेकिन हम चाहते कुछ और हैं—करते कुछ और हैं तो हमारी जानकारी और क्रियाओंमें परस्पर विरोध हो जाता है। जो काम विचारसे सिद्ध नहीं, विचारसे शुद्ध नहीं, वह काम यदि हम करते हैं और उसके लिए संकल्प करते हैं तो संकल्प और विचार दोनों आपसमें भिड़ जाते हैं। जब वे लड़ जाते हैं तो उनके संघर्षसे मनपर इतना बोझ पड़ता है कि वह बेचारा उसको आत्मसात् करनेके लिए जल्दी-जल्दी करने लगता है।

मुझे एक डॉक्टर बता रहे थे कि मनुष्यको जब सर्दी लगने लगती है, वह ठिठुरने लगता है तो उसके शरीरमें कँपकपी होने लगती है, उसके दाँत कटकटाने लगते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि कम्पन होनेसे शरीरमें गर्मी पैदा हो जाये और सर्दी मिट जाय। उसके विचारसे सर्दी दूर करनेके लिए शरीरका कम्पन आवश्यक है। कँपकँपी एक प्रकारका शारीरिक व्यायाम ही है। यह बात कितनी ठीक है, यह तो ज्ञान और संकल्पकी लड़ाई है, उसको रोकिये, अन्यथा वे अपनी खुराकके बिना आपको ही घायल कर देंगे। जब दो आदमी लड़ रहे होते हैं और बीचमें कोई चला जाता है तो उनके हथियार चाहे वे लाठी हों अथवा गोलियाँ हों, मध्यस्थको लग जाती हैं। विचार और संकल्पकी खुराक ज्ञान और भक्ति ही है। इसीसे वे दोनों एक होते हैं।

अब आपको एक छोटी-सी बात और सुनाते हैं। सम्भव है कभी आपकी सुनी हुई भी होगी। आत्मा या परमात्माको सत् बोलते हैं। गीतामें भी सत् शब्दका बहुत प्रयोग है—

अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। इत्यादि

न सत् तन्नासदुच्यते।

सत्का अर्थ है अस्ति। आपका आत्मा है और रहना चाहता है। अब आपका धर्म क्या हुआ? यही हुआ कि आप सबके रहनेमें मदद कीजिये और स्वयं भी अपने जीवनको बनाये रखिये। आप ऐसा काम कीजिये; जिससे आपका जीवन दीर्घायु रहे, और दूसरा भी स्वस्थ रहे और दीर्घायु होवे। आप न तो स्वयं मरनेका विचार कीजिये और न दूसरेको मरने दीजिये। अपनी ओरसे भरपूर प्रयत्न कीजिये कि दूसरा मरने न पाये। सद्भावमें-से चार धर्म निकलते हैं—एक जीते रहिये, दूसरा जिलाइये, तीसरा मरनेकी कल्पना मत कीजिये और चौथा दूसरेके मरनेमें हेतु मत बनिये। यदि आप सत् हैं तो ये चार बातें आपके जीवनमें होनी चाहिए। जीवनके लिए जो भी आवश्यक है—खानेके लिए अन्न चाहिए, पहननेके लिए वस्त्र चाहिए, रहनेके लिए मकान चाहिए, पीनेके लिए पानी चाहिए और स्वस्थ रहनेके लिए दवा चाहिए—उसकी व्यवस्था कीजिये; अपने लिए भी और दूसरोंके लिए भी। यह सद्भाव है।

दूसरा चिद्भाव है। उसका अर्थ है ज्ञान, जो आपके जीवनमें है। इसमें-से भी चार निकलते हैं धर्म। एक आप स्वयं अपनी मूर्खता मिटाइये, दूसरा दूसरोंको मूर्ख मत बनाइये, तीसरा अपना ज्ञान बढ़ाइये और चौथा दूसरोंका ज्ञान बढ़ाइये। ज्ञान-वर्द्धनके लिए विद्यालय होने चाहिए, सत्सङ्ग होने चाहिए, प्रवचन होने चाहिए, पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन होना चाहिए। ऐसे-ऐसे काम होने चाहिए, जिनसे अपना ज्ञान तो बढ़े ही, दूसरोंका भी ज्ञान बढ़े। यह धर्म है। हमारा धर्म अवैज्ञानिक नहीं है। हमारे धर्मका दार्शनिक पक्ष भी है।

तीसरा है आनन्द भाव। इसमें-से भी चार धर्म निकलते हैं—एक आप स्वयं सुखी रहिये, दूसरा औरोंको सुखी कीजिये, तीसरा सुखके लिए अपेक्षित सामग्री जुटाइये और चौथा औरोंके लिए भी जुटाइये। अपने तथा दूसरोंके सुखके लिए लौकिक सम्पदा चाहिए—अर्थ चाहिए, काम चाहिए, भोग चाहिए। लेकिन चाहिए न्यायानुकूल। मनुष्यको नृत्य-संगीत और अभिनय सब जानना चाहिए। बाँसुरी बजा लीजिये, सितार बजा लीजिये, वीणा बजा लीजिए। नृत्य-संगीत सीख लीजिये, अभिनयकी कला सीख लीजिये। इससे आपको भी मजा आयेगा, दूसरोंको भी मजा आयेगा। ये सब क्रियाएँ आनन्दकी हेतु हैं। आप स्वयं दुःखी मत होइये, दूसरेको दुःखी मत कीजिये और स्वयं सुखी रहिये और दूसरोंको सुखी कीजिये। यही आनन्द भाव है।

किन्तु आप सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव इन तीनोंको अलग मत समझिये। ये तीन नहीं हैं, एक ही हैं। इनके अद्वय रूपमें-से यह धर्म निकलता है कि मिलकर रहिये और मिलाकर रखिये। यह अद्वैत धर्म है और सबके लिए आवश्यक है। भले ही आजकल न जातिका मेल है, न मजहबका मेल है, न प्रान्तका मेल है और न राष्ट्रका मेल है। पार्टीकी बात तो कुछ पूछिये ही नहीं। उनपर दल-बदलुओंका साम्राज्य है, जो सुबह एक दलमें तो शामको किसी दूसरे दलमें। लेकिन सबका हित इसीमें है कि मिलकर रहिये और मिलाकर रखिये। न तो स्वयं फूटिये और न दूसरोंको फोड़िये। यह केवल लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे, दार्शनिक दृष्टिसे, वेदान्तकी दृष्टिसे, शास्त्र-पुराणकी दृष्टिसे ही नहीं, यह सच्चिदानन्द अद्वय तत्त्व है। उसके भीतरसे हमारे जीवनके लिए धर्म निकलता है।

पहली बात यह है कि आप मनमें बुद्धिको और बुद्धिमें मनको लगाकर रखिये। चाहे जितनी भी प्रेरणाएँ आपके जीवनमें आवें, मन-बुद्धिका विलगाव नहीं होना चाहिए।

दूसरी बात है कि आपकी बुद्धि शुद्ध है या नहीं, यह देखते रहिये। गीताके अनुसार बुद्धिको शुद्ध रखनेके लिए छः बातें हमारे जीवनमें रहनी चाहिए। पहले बता चुके हैं कि आठ बातें हैं बुद्धि-नाशक। अब बताते हैं कि छः बातें बुद्धि-वर्द्धक हैं। देखिये कि वे कौन-सी बातें हैं जिनसे बुद्धिका वर्द्धन होता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ७ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको सभी प्रकारकी सफलताओंके लिए बुद्धिका उपयोग-प्रयोग अनिवार्य बताते हैं और उनकी ऐसी कृपा कि वह बुद्धि भी वे स्वयं देते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

सांख्यबुद्धि भी बुद्धि है, योगबुद्धि भी बुद्धि है। अर्जुनने एक बार श्रीकृष्णपर आक्षेप भी किया कि, 'बुद्धिं मोहयसीव मे'—आप क्या मेरी बुद्धिको हिप्नोटाईज कर रहे हैं—सम्मोहित कर रहे हो? हमको तो निश्चय बुद्धि चाहिए, सम्मोहन नहीं चाहिए। लेकिन इसमें नासमझी अर्जुनकी ही थी, श्रीकृष्णकी नहीं। वे तो कहते हैं कि '**बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि**'। अर्जुन, यदि तुम्हें बुद्धि ठीक मिल जाये तो तुम्हारा कर्मबन्धन छूट जायेगा। इसलिए—'मय्यर्पित-मनोबुद्धिः'—तुम अपने मन और बुद्धिको मुझमें अर्पित कर दो, तुम्हारा काम बन जायेगा और भी कहा कि—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।

बुद्धिसे ही ज्ञान योगकी सिद्धि होती है।

अब प्रश्न उठता है कि वह बुद्धि कैसी होनी चाहिए, जिससे हमें व्यवहारमें सफलता मिले और परमार्थमें भी दृढ़ स्थिति? भगवान्ने बुद्धिको भी दो भागोंमें बाँटकर एकको प्रशंसा की है और दूसरीकी निन्दा की है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

एक बुद्धि होती है निश्चयात्मक और दूसरी बुद्धि होती है अनिश्चयात्मक अर्थात् संशयात्मक। जो दृढ़ निश्चया बुद्धि है, वह सर्वत्र सफलता देती है। दृढ़ निश्चयाका अर्थ है कि बुद्धिमें जो निश्चय हो, वह दृढ़ हो, डावाँडोल न हो। जीवनमें सफलता कब प्राप्त होती है? 'युवा आशिष्ठो दृढिष्ठो वलिष्ठः (तै० उप०२.८.१)।' जब उत्साह हो मनमें, आशा हो सफलताकी और दृढ़ता हो अपने निश्चयपर। दृढ़

बुद्धि हुए बिना जीवनमें कोई सफलता नहीं आती। लेकिन यह दृढ़ता कहाँसे आये? इसके लिए भगवान्‌ने छह बातें बतायी हैं।

किसी भी वस्तुके बारेमें विचार करनेके लिए एकाग्रताकी अनिवार्य आवश्यकता है। हम जिस चीजके बारेमें भी सोचें, पूरी तरह सोचें। वह जैसी मालूम पड़ रही है, वहाँसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त हमारे चिन्तनकी अवगति होनी चाहिए। हमें जो एक तृण दीख रहा है, उसकी गति परमात्मा-पर्यन्त कैसे है, ऐसा समझनेकी हमारी पैनी बुद्धि होनी चाहिए। तृण देखनेपर हमें यह बोध होना चाहिए कि उसमें पञ्चभूतोंके साथ-साथ परमात्मा भरपूर है। बुद्धि जब किसी वस्तुको अधूरे रूपमें देखती है, तब उसमें गलती हो जाती है। इसलिए हमारी बुद्धिको चाहिए कि वह उस वस्तुको पूर्णता-पर्यन्त देख ले। इस प्रकार देखना तभी होगा, जब वह एकाग्रताके लिए एक तो अनेक वस्तुओंकी ओर से बुद्धि हटकर अपने लक्ष्यमें स्थिर हो और दूसरे रूखी-सूखी-भूखी बुद्धि न हो, तृप्त बुद्धि हो।

एक सज्जन कहीं जा रहे थे। जब सन्ध्यावन्दन करनेका समय हुआ तो उन्होंने अपनी पोटली अलग रख दी और स्वयं ध्यान करने बैठ गये। उनकी आँखें बन्द हो गयीं, सिद्धासन बँध गया, पीठकी रीढ़ सीधी हो गयी, लेकिन बीचमें पोटलीका ख्याल आ गया—वह सुरक्षित है या उसे कोई उठा ले गया। उन्होंने आँख खोलकर पोटली देख ली। फिर आँख बन्द किया तो पोटलीकी याद आयी और उन्होंने आँख खोलकर पोटली देख ली। अब आप ही बताइये, उनका मन एकाग्र कैसे होगा? उनकी इष्ट देवता तो पोटली बनी बैठी है, जो बाहर है। उसमें हजारों रुपये रखे हुए हैं और वे चाहते हैं कि पोटली भी सुरक्षित रहे और उनका मन भी एकाग्र हो जाये! यह कैसे होगा?

दूसरा उदाहरण और देखिये। किसी सज्जनके कोई प्रिय व्यक्ति आनेवाले थे। वे कभी घरमें बैठें और कभी दरवाजेपर निकलकर देखें कि आये या नहीं? बार-बार घरमें बैठने और दरवाजेपर निकलनेवालेका मन कैसे एकाग्र होगा?

इसलिए एकाग्रताके लिए बुद्धिको बाहरकी ओरसे हटाकर भीतर बैठाना चाहिए और भीतर भी यदि वह प्यासी-प्यासी रहेगी, उसमें तृष्णा बनी रहेगी, तृप्ति नहीं रहेगी तब भी वह वहाँ एकाग्र नहीं हो सकेगी।

इसलिए भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञताके लिए पहले श्लोकमें दो बातें बतायीं। पहली बात यह बतायी कि बाहरका तो आकर्षण न हो।

'सर्वान्मनोगतान् कामान् प्रजहाति' और भीतर अतृप्ति न हो—'आत्मन्येवात्मना तुष्टः।' मनकी एकाग्रताके लिए एक तो चाहिए बाहरी त्याग और दूसरे चाहिए अन्तरका रस। तभी बुद्धि एकाग्र होती है और प्रज्ञा स्थिर हो जाती है।

यदि कहो कि अभी जो बात बतायी गयी, वह तो समाधि लगानेकी है। हम चले तो बुद्धि स्थिर करनेके लिए, परन्तु आँख बन्दकर, बाहरका छोड़कर अन्दरका स्वाद लेने लगे तो व्यवहार कैसे चलेगा? वह तो छूट ही जायेगा! नहीं भाई! व्यवहार नहीं छूटेगा। वह भी एकाग्रतासे ही होना चाहिए। सारी जिन्दगी गुफामें बैठनेके लिए नहीं होती। भगवान्‌ने पाँव दिया है चलनेके लिए, हाथ दिया है काम करनेके लिए और जीभ दिया है बोलनेके लिए। इसलिए तुम गुफामें बैठकर इनको बिलकुल निकम्मा कैसे कर सकते हो?

देखो, एक महात्माके पास कोई सत्सङ्गी सज्जन गये। उनके मनमें यह प्रश्न था कि हम व्यवहारका काम करें या भजन-ही-भजन करें। वे फूलोंका गुलदस्ता लेकर महात्माके पास गये। जब उन्होंने महात्माके हाथमें गुलदस्ता दिया तो महात्मा उसको एकटक देखने लगे और पाँच-दस मिनट तक देखते रहे। अब उस सज्जनसे नहीं रहा गया, उन्होंने कहा कि, महाराज, जरा मेरी ओर भी तो देखिये। आप तो गुलदस्ता देखनेमें लग गये। महात्माने कहा कि अच्छा भाई, उसको फेंक देता हूँ और अब तुमको देखता हूँ। सज्जन बोले कि नहीं-नहीं महाराज, मैं बड़े प्रेमसे कई जगह ढूँढ़कर यह गुलदस्ता ले आया हूँ। महात्मा बोले कि फिर मैं क्या करूँ? सज्जनने कहा कि थोड़ा उसको देखिये और थोड़ा मुझे देखिये। महात्माने कहा कि बस, तुम्हारे प्रश्नका यही उत्तर है। यह संसार ईश्वरका सजाया हुआ गुलदस्ता है, इसकी ओरसे बिलकुल अन्धा नहीं हो जाना, इसकी ओरसे आँख नहीं बन्द कर लेना और देनेवालेको भी मत भूल जाना। 'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन'—होता यह है कि लोग गुलदस्ता देखनेमें लग जाते हैं, लानेवालेको या देनेवाले ईश्वरको नहीं देखते। लेकिन देनेवालेको इतना देखने लग जाय कि उसके गुलदस्तेका अनादर हो जाय, यह भी नहीं होना चाहिए। इसलिए देनेवालेको भी देखो और गुलदस्तेको भी देखो। यही व्यवहारकी रीति है।

यह अनुभवकी बात है कि यदि हम थोड़ी देरके लिए भी निष्काम होकर, आत्मतृप्त होकर, एकाग्र होकर बैठते हैं, भजन करते हैं तो उससे हमारे जीवनमें

शक्तिका आविर्भाव होता है। बड़ी भारी ताकत उससे मिलती है। लेकिन जब व्यवहारमें उतरते हैं तब बुद्धिको डावाँडोल करनेवाले बहुत सारे पदार्थ हमारे सामने आ जाते हैं। अथर्ववेदमें कहा गया है—'देवस्य पश्य काव्यम्' यह संसार भगवान्‌की कविता है, इसको देखो, 'न ममार न जीर्यति' (१०.८.३२) यह अमर है, अजर है।

भगवान् ऐसी कविता क्यों करते हैं? इसलिए करते हैं कि वे अकेले रहते हैं। अपनी बोरियत मिटानेके लिए कुछ-न-कुछ रचनाएँ करते रहते हैं और उनके बहुत-सारे नाम भी रख लेते हैं—'नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते'। यह तैत्तिरीय आरण्यक (३.१२.७)का मन्त्र है। भगवान् स्वयं तो नाम रखते हैं और गाते भी रहते हैं। काव्य और संगीत दोनोंका आनन्द लेते हैं। भगवान्‌की कवितामें सारे रस होते हैं। कहीं शृङ्गार होता है, कहीं रौद्र होता है, कहीं हास्य होता है तो कहीं करुण होता है। भगवान्‌की रसमयी दृष्टि इस सृष्टिपर सभी रसोंकी वर्षा कर रही है।

मैं आपको अपने अनुभवकी बात सुनाता हूँ। एक बार हम लोग मैसूर गये और वहाँ हमने महाराजकी चित्रशाला देखी। अब जैसा चित्र, वैसा उसका प्रभाव। शान्तरसका चित्र देखकर मन एकाग्र हो जाता था, शृङ्गाररसका चित्र देखकर आँखोंमें आँसू आ जाते थे और हास्यरसका चित्र देखकर हँसी आ जाती थी। जब हम चित्रशालासे बाहर निकले तो मनमें आया कि आज तो बड़ा आनन्द आया।

यह भगवान्‌की जो सृष्टि है, सर्वरसमयी चित्रशाला है। यह देखकर आनन्द लेनेके लिए है, घबड़ानेके लिए नहीं है। जीवन्मुक्त पुरुषोंको ऐसी बुद्धि, ऐसी प्रज्ञा प्राप्त है कि वे सब दशाओंमें आनन्दमग्न रहते हैं। किन्तु जब वे व्यवहारमें उतरते हैं तो उनको सभी रस, सभी तरहके चित्र देखनेको मिलते हैं।

काशीमें एक भारतमाताका मन्दिर है। बचपनमें जब हम लोग उसको देखने जाते थे तब उस समयके पराधीन भारतका दर्शन करके हमें बड़ा दुःख होता था कि हाय-हाय, हमारा देश ऐसा पराधीन हो रहा है। फिर जब यह देखते थे कि भविष्यमें जब भारत स्वाधीन होगा तो कैसा होगा। तो, यह सृष्टि भगवान्‌की चित्रशाला है। इसको देखते हुए ऐसे चलना चाहिए, ऐसे व्यवहार करना चाहिए कि बुद्धि ठीक रहे, बिगड़ने न पावे। भगवान्‌ने समाधिस्थ स्थितप्रज्ञका वर्णन करते हुए बताया कि एक तो मनमें एकाग्रता

हो, दूसरे मन निष्काम हो और तीसरे आत्मतृप्ति हो तब तुम्हारी बुद्धि नहीं बिगड़ेगी।

अब आप व्यवहारमें कैसे रहें, यह बताते हैं। इसमें ज्ञान और जीवनका, ज्ञान और कर्मका, ज्ञान और प्रीतिका भक्तिका समन्वय देखो—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतराग भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

बुद्धि स्थिर है। लेकिन आया दुःख। यह दुःख ऐसा है कि सबपर आता ही रहता है। सृष्टिमें ऐसा कोई नहीं हुआ, जिसपर दुःख न पड़ा हो। राजा नलके जीवनमें कितना बड़ा दुःख आया? वे सर्वहारा हो गये। उन्हें पत्नीका वस्त्र फाड़ना पड़ा। चोरीसे भागना पड़ा, नौकरी करनी पड़ी। श्रीरामचन्द्रका वनवास हुआ। युधिष्ठिरको जङ्गल-जङ्गल भटकना पड़ा। इतना ही नहीं, सारा इतिहास सत्पुरुषोंके दुःखोंसे भरा पड़ा है। इतना ही नहीं, सारा इतिहास सत्पुरुषोंके दुःखोंसे भरा पड़ा है। परन्तु बुद्धिका काम यह है कि दुःखपर दुःख भले ही आवें, वे तुमको उद्विग्न न कर सकें।

बात यह है कि जब हम गलत जगहसे सुख लेने लगते हैं तो गलतीका परिणाम भोगना ही पड़ता है। हम सुख लेते हैं चार जगहोंसे—या तो हम विषयोंका भोग करके सुखी होते हैं, या उनका संग्रह करके सुखी होते हैं और या हमको आगे विषय मिलेंगे, ऐसी कल्पना करके सुखी होते हैं, या किसी चीजकी आदत डालकर सुखी होते हैं।

लेकिन विषय-भोग तो ऐसे हैं जो कभी मिलते हैं, कभी नहीं मिलते, कभी बिछुड़ जाते हैं और कभी उनको भोगनेकी शक्ति अथवा रुचि नहीं रहती। इसलिए विषय-भोगी हमेशा सुखी कैसे रह सकता है? जवानीके बाद बुढ़ापा आता ही है, स्वस्थ शरीरमें भी रोग आते ही हैं, मृत्यु रास्ता देखती ही रहती है। जब हम विषय-भोगमें अपना सुख रख देंगे तो दुःख आना अनिवार्य हो जायेगा। संग्रहमें भी सुख नहीं है, वह पराधीन है। कभी संग्रह करते बने, कभी न बने, कभी अपना ही मित्र धोखा दे जाये, कभी सरकार ही ले ले, कभी चोर ले जाये, कभी असावधानी हो जाये। अगर संग्रहमें सुख रखोगे तो वह जायेगा। तुम जो यह कल्पना करते हो कि संग्रहसे आगे सुख होनेवाला है तो आगेके क्षणका क्या पता? ऐसा भी हो सकता है कि तुम रहो और वह रहे अथवा तुम भी न रहो तथा वह भी न रहे और, जो तुम

आदत डाल लेते हो, इसमें भी सुख कहाँ है? आदत तो तकलीफ ही देती है। पराधीन ही बनाती है।

इसीसे पण्डित लोग कहते हैं कि अपने सुखको ऐसी जगहपर मत रखो, जहाँ दुःख ही आता है और दुःखके आनेपर उद्विग्न मत होओ। भीष्मपितामहको बाण-पर-बाण, तीर-पर-तीर लगे वे शर-शय्यापर सो गये। फिर भी युधिष्ठिरको धर्मोपदेश कर रहे हैं, श्रीकृष्णका दर्शन कर रहे हैं और उन्हें अद्वैतका अनुभव हो रहा है। एक ओर बाणकी शय्या, दूसरी ओर युधिष्ठिरको धर्मोपदेश, तीसरी ओर श्रीकृष्णका दर्शन और चौथी ओर आत्मानुभूति। इस प्रकार यदि अनुद्वेग हो, बुद्धि दृढ़ हो तो मनुष्य जङ्गलमें भी मङ्गल मना सकता है।

यह मत समझो कि जीवनमें दुःख आयेगा ही नहीं। दुःख तो सुखका अन्त है और सुख भी दुःखका अन्त है—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतयान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगाविप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥

(अश्वमेध ४४.१९)

तुम जो कुछ इकट्ठा करोगे, वह एक दिन छीज जायेगा। जो ऊँचाईपर उठेगा, वह एक दिन गिरेगा, जितने संयोग हैं, उनमें एक दिन वियोग आयेगा और यह जीवन एक दिन मृत्युके किनारे पहुँच जायेगा। इसलिए दुनियामें जो आने-जानेवाली चीजें हैं इसके ऊपर अपने जीवनको आश्रित मत करो। तुम तो उसको पकड़कर रखो जहाँ बाँधे हुए हो। यह बात छान्दोग्य उपनिषद् (६.८.२) में आती है—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं-दिशं पतित्वा
अन्यत्रायतनमलब्ध्वा स्वबन्धनमेवोपाश्रयत।

हमारे प्राण बाहर जाकर फिर लौट आते हैं, आँखें बाहर जाकर फिर लौट आती हैं, जीभ बोलकर फिर चुप हो जाती है, मन बाहर जाकर फिर लौट आता है। क्यों? इसलिए कि हमारा जीवन कहीं बँधा हुआ है। इसलिए जहाँ यह बँधा हुआ है, वहाँ सत्यको ढूँढ़ो।

अब आपको एक दर्शनशास्त्रकी बात सुनाते हैं। दुःखके निमित्त न जाने कहाँ-कहाँसे आते हैं। कोई कहता है कि पूर्व कर्मका फल है, कोई कहता है प्रकृतिका स्वभाव है, कोई कहता है ईश्वरका दिया हुआ है, कोई कहता है अचानक ही आ जाता है। लेकिन निमित्त वास्तवमें कहाँसे आता है, यह अज्ञात है—

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।

वैद्य लोग किसी रोगके सम्बन्धमें कहते हैं कि यह कफ-वात-पित्तके विकारसे आया है अथवा खान-पानके असंयमसे आया है। दूसरे लोग प्रारब्धको, रोगको, भूतप्रेतको या ईश्वरको ही निमित्त—कारण बता देते हैं। इस प्रकार अज्ञात पदार्थके सम्बन्धमें अनेक कल्पनाएँ होती हैं। यही बात दुःखके सम्बन्धमें भी है। वह कहाँसे आ जाता है, इसका किसीको पता नहीं चलता।

दुःखके निमित्त प्रारब्धादि होंगे परन्तु हमारा मन जो दुःखाकार हो जाता है, वह थोड़ी-सी ममता और मोहके कारण ही होता है। जिससे ममता होगी, मोह होगा, सम्बन्ध होगा, उसके जाने या बिछुड़नेपर दुःख होगा, किन्तु जिससे कोई ममता-मोह नहीं होगा उसके जाने या आनेका कोई प्रभाव मनपर नहीं पड़ेगा।

एक बात और है। बाहरके निमित्त तो आते ही जाते रहते हैं उनको आप रोक नहीं सकते हैं और अपने मनमें जैसी आदत डाल रखी है, जैसा अभ्यास बना रखा है, वह भी सुख-दुःखका कारण होता है। जिसको मूर्ति तोड़नेका संस्कार डाल दिया जाता है वे मूर्ति तोड़नेपर खुश होते हैं और जिनको मूर्तिपूजाका संस्कार पड़ा हुआ है वे मूर्ति तोड़नेसे बहुत दुःखी होते हैं। यदि आपके दुश्मनके घरमें कोई दुःख आजाये तो वह आपको दुःख नहीं मालूम पड़ता, लेकिन किसी मित्रके घरमें दुःख आजाये तो उसकी अनुभूति होती है। असलमें दुःख-सुखका जो अनुभव है यह मानसिक संरचना है। दुःख-सुख बनते हैं मनसे, परन्तु दुःख-सुखका जो अभिमान है कि मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ—यह बनता है बेवकूफीसे। बेवकूफी बोलना शायद असंसदीय होगा। इसलिए हम उसको संसदीय बनाकर यदि बोलते हैं कि यह सुख-दुःखका अभिमान ठीक-ठीक न आने होनेसे होता है। कभी-कभी हम बीते हुए दुःखके कारण भी दुःखी होते हैं। अरे भाई, वह आया और बीत गया, अब है कहाँ जो उसके कारण दुःखी हो रहे हो? इसी तरह हम आगे आनेवाले दुःखकी कल्पनाके कारण भी दुःखी हो जाते हैं। लेकिन वह तो अभी आया ही नहीं, उसके लिए दुःखी क्यों होते हो? कभी-कभी जो दुःख बीतता जा रहा है, उसको भी पकड़कर लोग बैठ जाते हैं।

दुःखीपनेका अभिमान भ्रम है, नासमझी है, प्रज्ञापराध है। चरकमें लिखा है कि कई रोग प्रज्ञापराधसे भी होते हैं। प्रज्ञापराधजन्य रोग माने वह रोग जो हमारी नासमझीसे हो गया। इसलिए बुद्धि ठीक रखनी है तो दुःखके चक्करमें मत पड़ो।

इस प्रकार विचार करो कि दु:ख पञ्चभूतका है, पञ्चभूतमें है, प्रकृतिका है, प्रकृतिमें है, कालके वेगसे आया है, चला जायेगा। उसके बारेमें सोचनेकी हमारे मनकी आदत पड़ गयी है, जो ठीक नहीं है या इस दु:खको देनेवाला, भेजनेवाला हमारा यार है, प्यारा है, यह उसीका भेजा हुआ है। अपना दोस्त कभी चोटी पकड़कर खींच ले या कभी चिकोटी काट ले तो क्या हम बुरा मानते हैं? जरा देखो तो दु:ख देनेवाला कौन है?

किसीने सुनाया था कि एक दम्पति पानीके जहाजमें कहीं जा रहे थे। हुआ यह कि समुद्रमें बड़ा भारी तूफान आगया। डूबनेकी नौबत आगयी। सब लोग घबड़ाकर हाहाकार करने लगे। कोई इधर दौड़े, कोई उधर दौड़े। यात्री दम्पतिके जो पतिदेव थे, वे बड़ी शान्तिसे अपने स्थानपर बैठकर कुछ लिख रहे थे। पत्नी बोली कि अरे, तुम क्या करते हो, देखते नहीं, कितना भारी तूफान आ रहा है, हमारा जहाज डूबने जा रहा है, सत्यानाश हो रहा है और तुम बैठकर लिखनेमें मस्त हो। यह सुनकर पतिदेवने अपने कोटमें-से पिस्तौल निकाली और उसको अपनी पत्नीकी छातीपर लगा दिया; फिर बोले कि अब बताओ कैसा लगता है? पत्नी बोली कि लगेगा कैसा? पिस्तौल तुम्हारे हाथोंमें है, यह अपने-आप थोड़े ही चलेगी। तुम मेरे प्रियतम, पति हो, मुझे तुम्हारे ऊपर पूरा विश्वास है कि तुम मुझे मारोगे नहीं। पति ने कहा कि बस, यही इस तूफानके बारेमें समझो। जिसके हाथमें यह तूफान है, वह हमारा पति है, प्रियतम है, परमेश्वर है, हमको उसके ऊपर पूरा विश्वास है, उससे हमारा अनिष्ट नहीं होगा।

महात्मा लोग तो दु:खकी बातको हँसीकी बात बना देते हैं। एक बार हम लोग स्वामी प्रेमपुरीजीके साथ मोटरमें कहीं जा रहे थे। पीछेसे एक मोटर आयी और सड़कपर पड़े हुए गन्दे पानीको उछालती हुई आगे बढ़ गयी। गन्दा पानी हमारी मोटरकी खुली हुई खिड़कीके रास्ते भीतर आगया। हम सब भींग गये और हमारे मुँहमें भी पानी चला गया। हमारे ड्राइवरको क्रोध आ गया और उसने कहा कि हम इसको मजा चखाते हैं। लेकिन प्रेमपुरीजी महाराज बोले कि ना-ना ऐसा मत करो। हमने गङ्गाजल बहुत पीया है, भगवान्‌का चरणामृत भी बहुत पीया है लेकिन मोटरका चरणामृत तो आज ही मिला है। इसपर हम सब हँस पड़े। बात गुस्सेकी थी, लेकिन स्वामीजीने उसको हँसीका निमित्त बना दिया। इसलिए मनुष्यको ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि वह बड़े-से-बड़े दु:खोंको भी हँसीके रूपमें परिणत कर दे, मजाकका माध्यम बना दे।

देखो, दुनियामें दुःख आता कैसे है? उसका प्रवेश कहाँसे होता है? लोग अपने मन और बुद्धिको तो अपना मन और बुद्धि समझते हैं, लेकिन दूसरेके मन और बुद्धिको मशीन समझते हैं। मन उनका हो, संकल्प उनका हो, इच्छा उनकी हो और उनकी इच्छानुसार चले दूसरा। यह कैसे हो सकता है? क्योंकि दूसरा पत्थरका, लोहेका अथवा लकड़ीका बना औजार तो है नहीं; उसके अन्दर भी मन है। फिर भी वह उनके मनके अनुसार नहीं चलता तो उनको दुःख हो जाता है। लोगोंकी मानसिक स्थिति तो यह है कि वे ईश्वरसे भी मनचाही करनेकी ही अपेक्षा करते हैं। वे समझते हैं कि ईश्वरमें उनकी जैसी बुद्धि नहीं है, इसलिए वह उनकी सलाहके अनुसार ही उनका काम करता जाये। ऐसे लोगोंको बहुत दुःख भोगना पड़ता है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह दूसरेका मन भी देखें और परस्पर मेल-मिलाप करके व्यवहार करें।

वृन्दावनकी बात है। एक सज्जन बिहारीजीके दर्शन करने गये। वे बोले कि हे बिहारीजी, हमको बेटा चाहिए। इसका क्या अर्थ हुआ? यही अर्थ हुआ कि बिहारीजी अज्ञानी हैं, उनको मालूम नहीं कि उस सज्जनको बेटा नहीं है। अब बिहारीजी तो कुछ बोले नहीं। सज्जनने सोचा कि बिहारीजी ने सुन तो लिया ही होगा। वे बड़े दयालु हैं, जरूर हमारी प्रार्थना पूरी करेंगे। फिर बोले कि महाराज एक बरसके भीतर ही देना। इस तरह सज्जनने बिहारीजी को टाइम भी दे दिया, उनके ऊपर नहीं छोड़ा। फिर कहा कि आपकी कृपासे जो बेटा हो, सुन्दर हो, वह स्वस्थ हो, दीर्घजीवी हो, आज्ञाकारी हो। अब यदि बिहारीजी उस सज्जनसे कहें कि भाई, तुम ईश्वरसे बात कर रहे हो या नौकरसे? तुमको तो भगवान् नहीं चाहिए, भगवान्के रूपमें एक अच्छा-सा नौकर चाहिए, जो तुम्हारी इच्छानुसार काम करे, तुम्हारी आज्ञाका पालन करता रहे, तो क्या यह ठीक नहीं है। ऐसे लोग ईश्वरसे, माँसे, बापसे, बड़ोंसे अथवा छोटोंसे भी यही चाहते हैं कि जो उनके मनमें आया, वही हो। लेकिन जब उनकी मनचाही नहीं होती तो उनको दुःख भोगना पड़ता है, वे दुःखी होते हैं।

अब यदि कहो कि भगवान् दुःख-ही-दुःख क्यों देते हैं? तो इसका उत्तर है कि भगवान् दुःख-ही-दुःख नहीं देते, सुख भी देते हैं। लेकिन इसको बुद्धि और प्रीतिके, ज्ञान और भक्तिके समन्वयसे ही समझा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है।

अब देखो, एक विचारकी बात। असलमें हमारे हृदयमें एक ही आकाश—

जिसको बोलते हैं 'ख'—कं ब्रह्म, खं ब्रह्म (छन्दोग्य ४.१०.५) 'खादति सर्वम्'—जो मिट्टी, पानी, हवा, आग आदि सबको खा जाये, उसका नाम होता है खं। शून्यको 'ख' बोलते हैं, जो हमारा हृदयाकाश है। यह 'ख' सुखमें भी है और दु:खमें भी है। जब आत्मामें कभी तूफान आ जाये, बादल आ जाये, गर्मी पड़ जाये तो वह हो गया दु:ख और जब चाँदनी रात छिटके, शीतल मन्द सुगन्ध वायु बहे, सुखद वातावरण हो तो वह हो गया सुख। 'ख' के साथ 'सु' लग गया तो सुख हो गया और 'दु' लग गया तो दु:ख हो गया। इसीलिए आप इसमें 'सु' या 'दु' तो मत देखो, हृदयाकाश देखो—'दुखेष्वनुद्विग्नमना:'।

अब देखो, सुख क्या है? जिसको देखकर अनुकूल वेदनाका उदय होता हैं, उसको सुख बोलते हैं—'अनुकूलवेदनीयम् सुखम्'। यह न्याय वैशेषिककी परिभाषा है। भक्तिदर्शनमें इसको ऐसा बोलते हैं कि अपने प्रियतमका जो मिलन है, स्मरण है, स्फूर्ति है, वही सुख है। भक्तोंका सबसे बड़ा सुख यही है। मनुजी कहते हैं कि जहाँ हम आत्मवश हैं, स्वाधीन हैं, वहाँ सुख है—'सर्वम् आत्मवशं सुखम्।' वेदान्ती लोग सुखकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि सुख वह है जिसको हम किसी औरके लिए नहीं, केवल सुखके लिए चाहते हैं। यदि हम दूसरेको देनेके लिए सुख चाहते हैं तो इसलिए चाहते हैं कि दूसरेको सुख देनेसे हम सुखी होते हैं। अन्ततोगत्वा सुख आत्मनिष्ठ ही होता है। बाजारमें क्यों जाते हो? वस्तु खरीदनेके लिए! वस्तु खरीदनेसे क्या होगा? अपने मित्रको देंगे। मित्रको क्यों देते हो? उससे हमको सुख होता है। सुख और किसीके लिए नहीं होता, सुखकी अन्तिम गति आत्मा है। इसलिए वेदान्ती लोग मानते हैं कि अपना आत्मा ही सुखस्वरूप है—

सुखमस्य आत्मनो रूपम्।

यह तो ठीक है, पर संसारमें भी तो सुख-पर-सुख, सुख-पर-सुख आता रहता है। जैसे धनका मिलना सुख है, घरमें रहना सुख है, इत्यादि। जब यक्षने युधिष्ठिर से पूछा था कि आनन्द क्या है, तो युधिष्ठिरने यही उत्तर दिया था—

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥

(वनपर्व ३१३.११५)

आनन्द इसीमें है कि अपने ऊपर किसीका कर्ज न हो और पराये घरमें रहना न पड़ रहा हो—भले ही खानेके लिए पाँचवे-छठे दिन साग-सब्जी मिले। दूसरे शब्दोंमें, रहनेके लिए अपना घर हो और अपने जिम्मे किसीकी देनदारी न हो तो

रूखा-सूखा या साग-सब्जी खाकर भी सुखी रह सकता है। इस स्वाधीनताको, इस स्वातन्त्र्यको युधिष्ठिरने सबसे बड़ा सुख बताया है।

पर संसारी सुख तो आते-जाते रहते हैं—यह आया और वह गया। ऐसी स्थितिमें सुखी कैसे रहा जाये? ऐसे रहा जाये कि इन सुखोंको आने दो, आनेसे रोको मत, लेकिन यह स्पृहा मत करो कि ये हमारे घरमें, हमारे पास बने रहें। क्योंकि दुनियाकी कोई ऐसी चीज नहीं है, जो सदा-सर्वदा बनी रहेगी। बुद्धिको ठीक रखनेके लिए यही उपाय है कि दु:खसे लड़ाई मत करो, क्योंकि जो दु:ख आया है, वह चला जायेगा और सुखको भी पकड़कर रखनेकी कोशिश मत करो, क्योंकि वह भी तुम्हारे घरमें नहीं रहेगा। औरोंके घरमें भी तो जायेगा—सुखेषु विगतस्पृह:।

ऐसी बात ग्रहण करनेके लिए तीन बुद्धि चाहिए—'वीतराग-भय-क्रोध:'। जो सुख देनेवाला है उससे राग मत करो, आगे यह नहीं रहेगा, इसका भय भी मत करो और जो उसमें बाधा डालें, उसपर क्रोध भी मत करो। जब क्रोध आनेवाला हो तो सावधान हो जाओ। जब खूनमें गर्मी आने लगे, आँखें लाल होने लगे और जीभसे कुछ अण्ड-सण्ट निकलनेवाला हो तो समझ जाओ कि क्रोध आनेवाला है। पहलेसे ही तय करके रखो कि यदि एक क्रोधमें कुछ बोल देंगे तो इतने दिन नमक नहीं खायेंगे, इतने दिन शक्कर नहीं खायेंगे और इतने दिन चाय नहीं पीयेंगे। इसलिए जब क्रोध आनेवाला होगा तब याद आयेगी नमक, शक्कर और चाय-पान। जब इसकी याद आने लगेगी तो जिसपर क्रोध है, वह आँखोंसे ओझल हो जायेगा। क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर समझो कि वह काम ईश्वरकी प्रेरणासे हुआ है, महाभूतका स्वभाव है। उस समय मौन हो जाओ और एकाध घण्टे तक मत बोलो। एकान्तमें चले जाओ, थोड़ा रो लो। यह भी उचित मत समझो कि क्रोध तो आया तुमको और दु:ख पहुँचाना चाहते हो दूसरेको।

जब आप अपने जीवनको ऐसा नियन्त्रित बनायेंगे, तब आपकी बुद्धि स्थिर होगी। जिसके जीवनमें कोई नियम नहीं, कोई मर्यादा नहीं, उसकी बुद्धिमें भी कोई बल नहीं। जो नियमका, मर्यादाका पालन करता है, कोई व्रत ग्रहण करता है और कष्ट सहकर भी उसको पूरा करता है, उसके जीवनमें बलका उदय होता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:—आत्मदेव बलहीनको नहीं मिलते। मनुष्यको आत्मबल चाहिए, बुद्धिबल चाहिए, मनोबल चाहिए, चरित्र-बल चाहिए।

बुद्धिको स्थिर रखनेके लिए आवश्यक है कि आपका मन डावाँडोल न हो जाये, थोड़ा-सा प्रलोभन देखकर विचलित न हो जाये और थोड़ा-सा प्रतिकूल निमित्त देखकर आगबबूला न हो जाये। बुद्धिको ठीक रखिये।

यदि आपकी बुद्धिमें स्थिरता न हो तो आप भगवान्‌से प्रेम करके उनको क्या निहाल करेंगे? एक सज्जनके ऊपर किसी मुकदमेका संकट आया था। उनको किसीने बताया कि तुम भगवान्‌की अमुक पूजा करो, मानता मानो तो तुम्हारा काम पूरा हो जायेगा। सज्जनने वैसा ही किया और उनका काम पूरा हो गया। जब सामनेवालेने हाईकोर्टमें अपील कर दी तो दूसरी बार भी उन्होंने पूजा-पत्री की। लेकिन उसमें वे हार गये। अब तो उन्होंने भगवान्‌की मूर्ति उठाकर फेंक दी। उनको भगवान्‌पर गुस्सा आगया। ऐसे और भी कई लोगोंको हम जानते हैं जो फ्रेममें मढ़े गये भगवान्‌के चित्रको तोड़ देते हैं, भोग लगाना बन्द कर देते हैं, पूजा-पाठ खत्म कर देते हैं—इसलिए कि भगवान्‌ने उनके मनका क्यों नहीं किया; लेकिन जीवकी यह हिमाकत ही है कि वह भगवान्‌पर इस प्रकारका गुस्सा करे। उन सज्जनको ब्राह्मणोंने समझाया कि भगवान् तो सबपर कृपा करते हैं, आप सर्वोच्च अदालतमें अपील कीजिये, हमें विश्वास है कि सफलता मिलेगी। सज्जनने ब्राह्मणोंकी बात मान ली, अनुष्ठान बैठाया, अपील की और जीत गये। फिर तो उन्होंने बड़ा भारी उत्सव किया।

लेकिन जो बुद्धि अपनी जीतके साथ जुड़ी हुई है, वह जब हारती है तो डावाँडोल हो जाती है और जब जीत होती है तब फूल जाती है। उसमें कभी शोध हो जाता है और कभी वह सुखण्डी हो जाती है। ऐसी बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती।

इसलिए आप इस बातको बराबर ध्यानमें रखो कि यदि आपको अपने जीवनमें भगवान्‌से प्रेम करना है, अपने प्यारेको प्रसन्न रखना है, अपने व्यापारको सफल बनाना है तो उन सभीके लिए स्थिर बुद्धिका प्रयोग अनिवार्य है। बिना स्थिर बुद्धिके कोई काम बनता नहीं है। डावाँडोल बुद्धि तो बने-बनाये कामको बिगाड़ देती है। जीवनमें सर्वत्र बुद्धि और कर्मका समन्वय है, बुद्धि और भक्तिका समन्वय है, बुद्धि और योगका समन्वय है, बुद्धि और ब्रह्मज्ञानका समन्वय है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ८ :

आइये, गीतामें भक्ति तथा ज्ञानके समन्वयपर और विचार करें। यह हम कह चुके हैं कि समन्वयके लिए दोनोंके ज्ञानकी आवश्यकता होती है—सामान्य ज्ञानकी भी और विशेष ज्ञानकी भी। दोनोंकी अपनी-अपनी अपूर्वता होती है। एकसे दूसरा यथार्थ नहीं होता है। दोनों अपना-अपना काम करते हैं और अन्तमें फल एक ही निकलता है। 'सम्यक् अन्वय'—एकके पीछे दूसरा चलता है। भक्तिके पीछे ज्ञान चले, ज्ञानके पीछे भक्ति चले और दोनों मिलकर एक काम करें, तब उनका समन्वय होता है।

अब पुनः भक्तिकी बात लेते हैं। अर्जुनका श्रीकृष्णके साथ शारीरिक नाता भी है। अर्जुन श्रीकृष्णके बूआका बेटा भी है—कुन्तीका पुत्र है और बहन सुभद्राका पति होनेके कारण बहनोई भी है। यह शारीरिक सम्बन्ध भी प्रीतिका हेतु होता है। यदि हम भी भगवान्‌के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित कर लें तो उसमें ऐसा रस आयेगा, वह ऐसा मधुमय होगा कि संसारके दूसरे सम्बन्ध छूट जायेंगे।

'हरि सों जोरि सबनि सों तोर्यो'—भगवान्‌के साथ नाता जोड़ लो, उसमें इतना आनन्द है कि उसके सामने संसारका आनन्द फीका पड़ जायेगा। अर्जुन श्रीकृष्णसे कहते हैं कि हमारा तुमसे शारीरिक सम्बन्ध है, मिलना-जुलना है, बातचीत है और ऐसी मित्रता है कि मैं कभी-कभी गाली-गलौज भी कर बैठता हूँ—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥

अर्जुन हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा कहकर श्रीकृष्णको सम्बोधित करते हैं। भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेना भक्ति है। जैसे माता-पिताके प्रति भक्ति होती है, मित्रके प्रति प्रेम होता है और छोटेके प्रति स्नेह होता है वैसे ही भगवान्‌के साथ एक सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

अब देखो कि प्रेम बढ़ता कैसे है? शास्त्रमें यह प्रश्न उठाया गया है कि प्रेमके आलम्बन विभाव तो मित्र-मित्र होते हैं, प्रेयसी-प्रियतम होते हैं या माता-पुत्र होते हैं। लेकिन प्रेमका उद्दीपन विभाव क्या है? उद्दीपन माने उकसाना, जैसे टिमटिमाते हुए दीपककी बत्तीको इसलिए उकसा दिया जाता है कि वह और प्रज्वलित हो जाये, वैसे ही उद्दीपन विभावका अर्थ है प्रेमको उद्दीप्त करनेवाला। यह वस्तु क्या है, जिससे प्रेम बढ़ता है?

प्रीति-सन्दर्भमें उसका निश्चय किया हुआ है कि विनयके प्रति प्रेम बढता है, शालीनके प्रति प्रेम बढ़ता है और प्रेमीके प्रति प्रेम बढ़ता है। जो हमसे प्रम करता है, उसके प्रति हमारा प्रेम बढ़ता है, अभिमानीके प्रति प्रेम नहीं बढ़ता है। जैसे गंगाजीका स्वभाव पहाड़पर-से नीचे उतरनेका है वैसे ही प्रेमका स्वभाव नीचे बहनेका है। जिसमें विनय होगी, उसके प्रति तो प्रेम होगा, लेकिन जो अपना बड़प्पन दिखायेगा उसके प्रति प्रेमका उदय नहीं होगा। इससे सिद्ध होता है कि प्रेमका उद्दीपन विभाव प्रेम ही है। महाभारतमें एक बहुत छोटी-सी कथा आती है कि एक बार अग्नि देवताको घी-बूरा आदिकी हवन-सामग्री ग्रहण करते-करते अजीर्ण हो गया। देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार ने बताया कि अब आप वानस्पत्यका अर्थात् जड़ी-बूटी और फल-फूलका सेवन कीजिये। किसी जंगलको जलाइये, तब आपका अजीर्ण दूर हो जायेगा। अग्नि देवताने खाण्डव वनको जलानेका निश्चय किया। लेकिन जब वे खाण्डव वनको जलानेके लिए गये तो उसमें निवास करनेवाले बड़े-बड़े भयंकर प्राणियोंने उनको रोका कि आप हमारे आश्रय-स्थलको कैसे जला सकते हैं? श्रीकृष्ण और अर्जुन अग्निदेवताकी सहायता करनेके लिए पहुँचे—वहाँ भी श्रीकृष्ण सारथि थे और अर्जुन रथी। इन्द्रने कहा कि देखो अर्जुन, इस खाण्डव वनमें हमारा एक मित्र सर्प रहता है, इन्द्र अर्जुनके पिता हैं और अर्जुन इन्द्रांश है। इसलिए अर्जुनने अपने पिताकी आज्ञा मानकर सर्पकी रक्षा की। इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा कि तुमने अर्जुनके द्वारा हमारे मित्रकी रक्षा करवा दी, इसलिए मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम वर माँगो। श्रीकृष्णने यह नहीं कहा कि तू एक छोटे-से स्वर्गका राजा और कहा मैं अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका एकछत्र सम्राट्, तू मुझे क्या वर देगा? वे बोले कि हाँ-हाँ महाराज, आप देवता हैं, मैं मनुष्य हूँ। आप अवश्य वर दीजिये। लेकिन यही वर दीजिये कि अर्जुनके साथ मेरी मैत्री सदा बनी रहे, कभी टूटे नहीं।

इस प्रसंगमें एक लौकिक बात है। यदि किसीसे अपनी मैत्री हो और उस मैत्री सम्बन्धको मित्रके पिताका भी अनुमोदन प्राप्त हो जाये तो फिर मित्रतामें कोई बाधा नहीं होती। श्रीकृष्णने अर्जुनसे मैत्री रखनेका वरदान माँगा, इसका प्रभाव अर्जुनपर यह पड़ा कि उसका श्रीकृष्णके प्रति अगाध विश्वास हो गया। मैत्रीके मूलमें विश्वास आवश्यक है। यदि विश्वास टूट जाय तो न मित्र-मित्रमें, न पति-पत्नीमें और न माता-पुत्रमें प्रेम रहेगा। विश्वास ही प्रेमका मूल है। प्रेम विश्वाससे पैदा होता है, विनयकी ओर चलता है और प्रेम देखकर बढ़ता है। यह प्रेमका स्वभाव है।

देखो, अर्जुनसे श्रीकृष्णका कितना प्रेम है। अर्जुनका भी श्रीकृष्णपर कितना विश्वास है। आपको वह प्रसंग याद होगा कि जब अर्जुन श्रीकृष्णको युद्धके लिए आमन्त्रित करने गये तो वहाँ दुर्योधन पहलेसे ही उपस्थित थे। श्रीकृष्ण सो रहे थे और दुर्योधन उनके सिरहानेकी ओर बैठे थे। दुर्योधन को युधिष्ठिर सुयोधन बोलते थे। यह धर्मात्माकी दृष्टि है। दुर्योधन श्रीकृष्णके सिरहाने इस अहंकारके कारण बैठे थे कि मैं राजा हूँ, मेरे लिए यही उपयुक्त स्थान है। लेकिन जब अर्जुन आये तो वे अपने विनयके कारण श्रीकृष्णके पाँवोंकी अर बैठ गये। जब श्रीकृष्णकी आँख खुली तो पाँवोंकी ओर गयी और उन्होंने अर्जुनको उधर देखा। श्रीकृष्ण झट उठ गये और उन्होंने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया। फिर पूछा कि अर्जुन, कैसे आये? अर्जुन बोले कि युद्ध शुरू होनेवाला है, उसमें आपकी सहायता लेने आया हूँ। इतनेमें दुर्योधन बोल उठे कि मैं अर्जुनके आनेके पहलेसे आकर बैठा हूँ और मेरे आनेका उद्देश्य भी यही है कि युद्धमें मुझे तुम्हारी सहायता प्राप्त हो। श्रीकृष्ण बोले कि ठीक है भाई, तुम पहले आये परन्तु मैंने अर्जुनको पहले देखा इसलिए उससे बात शुरू कर दी। अब तो कुछ अर्जुनकी और कुछ तुम्हारी सहायता करनी चाहिए। श्रीकृष्णने अपनी सहायताको दो हिस्सोंमें बाँट दिया—एक ओर अपनी बहुत बड़ी नारायणी सेना कर दी और दूसरी ओर स्वयं अकेले और वह भी निरायुध हो गये। फिर बोले कि भाई अर्जुन, तुम छोटे हो, इसलिए माँग लो, दोनोंमें से तुम्हें क्या चाहिए? यहाँ अर्जुनका विनय और विश्वास दोनों प्रकट हुए, बोले कि हमको तो सेना नहीं, कृष्ण चाहिए। सेना हमारी रक्षा नहीं कर सकती, श्रीकृष्ण हमारी रक्षा कर सकते हैं। इस घटनासे श्रीकृष्णकी प्रीति गयी अर्जुनपर और अर्जुनकी प्रीति गयी श्रीकृष्णपर। इसलिए श्रीकृष्णने कई बार कहा कि—'**भक्तोऽसि मे सखा चेति, इष्टोऽसि मे दृढमिति**'— अर्जुन, तुम मेरे भक्त हो, सखा हो।

यदि अर्जुनके चित्तमें श्रीकृष्णके प्रति भक्ति न होती तो वे उनको गीताका ज्ञान नहीं देते। यह बात उन्होंने गीतामें कई बार कही है कि मैं जो बता रहा हूँ, वह भक्तके लिए है। तेरहवें अध्यायमें जहाँ वे क्षेत्रज्ञका, प्रकृति, पुरुषका वर्णन करते हैं, वहाँ कहते हैं कि—'**मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते**' मेरा भक्त इसको जानता है और जानकर मेरा स्वरूप हो जाता है। भक्त वह है जो भगवान्‌को अपने नन्हें-से हृदयमें बैठा लेता है। कहाँ हृदयकी छोटी-सी कोठरी और कहाँ उसमें बैठनेवाले अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके मालिक विराट् भगवान्। यह भक्तके अन्तःकरणकी विशेषता है कि भगवान् उसमें बैठ लेते हैं।

अब ज्ञानकी बात देखो। जो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है, वही श्रीकृष्णकारावच्छिन्न चैतन्य है। जबतक प्रमाता प्रमेयसे एक नहीं होता, तबतक ज्ञान नहीं होता। विषय-ज्ञानमें भी यही पद्धति है। जब घड़ा आपके मनमें आजायेगा तब आपका और घड़ेका, दोनोंका चेतन एक हो जायेगा और तभी ज्ञान होगा। ऐसे समझ लो कि ये जो स्वामीजी आपके सामने बैठे हैं, इनको मैंने आँखके द्वारा हृदयमें बैठा लिया। अब क्या हमारे हृदयमें बैठे हुए स्वामीजीका जीवचैतन्य अलग है और इनको देखनेवाला, अपने दिलमें बैठानेवाला जो मैं हूँ, उसका जीवचैतन्य अलग है? नहीं, जो देखनेवालेका चेतन है, वही दीखनेवालेका चेतन है। इसलिए जबतक स्थायी-भावावच्छिन्न चैतन्यकी आलम्बन-भावावच्छिन्न चैतन्यसे एकता नहीं होगी, तबतक रसकी अनुभूति नहीं हो सकती। यह रसकी शास्त्रीय प्रक्रिया है। जब हम किसीसे एक हो जाते हैं तब उसका मजा हमको मिलता है। इसको दिल-से-दिल मिलना बोलते हैं और कहते हैं कि हमारा दिल और हमारे प्यारेका दिल दोनोंका एक है। जब भगवान्‌का भक्त यह विज्ञान प्राप्त करता है तब वह भगवत्स्वरूप हो जाता है।

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यम्॥

देखो, अर्जुनका विनय, अर्जुनका विश्वास और अर्जुनका वरण। उसने एक अक्षौहिणी बलवती नारायणी सेनाका परित्याग किया और एकाकी अस्त्र-शस्त्ररहित, निहत्थे श्रीकृष्णका वरण किया। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः (क० उप० १.२.२३)' इस प्रकार जो भगवान्‌का वरण करता है, उसीको भगवान् मिलते हैं।

भगवान् भी अपने भक्तों के लिए कितने छोटे हो जाते हैं? कहाँ निर्गुण, निराकार, निर्विकार, निर्धर्मक, निर्विशेष अद्वितीय परमात्मा और कहाँ उतरकर आया मायामें? मायासे भी उतरकर आया विराट् स्थूल समष्टिमें, वहाँसे उतरकर आया एक ब्रह्माण्डमें और ब्रह्माण्डमें-से उतरकर आया भारतवर्षमें। उसको अपने भक्तके लिए अपनी बृहत्ताका, अपने बड़प्पनका ध्यान छूट गया। यह भगवान्‌का अनुग्रह नहीं तो और क्या है?

लोग भगवान्‌के इस अनुग्रहका आस्वादन इसलिए नहीं कर पाते कि वे छोटी-छोटी बातोंमें अटककर सच्चे धर्मको भूल जाते हैं। छोटी चीजमें अटक गये। आजकल मजहबने सच्चे धर्मको तिरस्कृत कर दिया है। भाषाने ज्ञानका अनादर कर दिया है। हम इतने भाषा-निष्ठ हो गये हैं कि यदि दूसरी भाषामें ज्ञान मिलता हो तो

उसका अनादर करते हैं। लेकिन ऐसा करके हम ज्ञानका ही अनादर करते हैं। ज्ञान बड़ी चीज है, भाषा छोटी चीज है। मानवता बड़ी चीज है, जाति छोटी चीज है। धर्म बड़ी चीज है, मजहब छोटी चीज है। राजनीति बड़ी चीज है, पार्टी तो बिलकुल तुच्छ वस्तु है। कहाँ राष्ट्रका विशाल हित, कहाँ राष्ट्रीयता और अनन्तर राष्ट्रीयताकी उदार नीति तथा कहाँ दल-दलमें फँसा नेता! तो यह छोटी-सी दलबन्दी! दलबन्दी भी नहीं, व्यक्तिवाद! पार्टी हित नहीं, अपना हित। इस प्रकार हम जितने-जितने छोटे होते जाते हैं उतना ही उतना हमारा बड़प्पन छूटता जाता है और हम कूप-मण्डूक बन जाते हैं।

लेकिन हमारे भगवान् कितने दयालु हैं। जब वे देखते हैं कि हमारा भक्त कुएँमें गिरा है तो कुएँमें ही पहुँचकर उसको अपने हृदयसे लगा लेते हैं। देखो तो सही, भगवान् बूआके लड़के बने, साले बने, मित्र बने और फिर रथके सारथि तक बन गये। यदि भगवान् भक्तकी समान सत्तामें नहीं आयेंगे तो उद्धार कैसे होगा? भक्ति-सिद्धान्तमें यह बात नहीं मानी जाती कि जहाँ हम हैं, वहाँ भगवान् नहीं आयेंगे। हमको ही भगवान्के पास पहुँचना होगा और तभी हमारा उद्धार होगा। हमारे पास तो भगवान्के पहुँचनेकी शक्ति नहीं है, साधना ही नहीं है। भक्ति ही भगवान्को भक्तके पास ले आती है और अनन्तसे सान्त और अनादिसे सादि बनाती है। यह भक्तिकी ही करामात है कि भगवान् बापसे बेटा बन जाते हैं, रिश्तेदार-नातेदार बन जाते हैं, मित्र बन जाते हैं, सेवक बन जाते हैं, जिसके सङ्कल्पमें समग्र विश्व है, उसको लाकर अपने हृदयमें बैठानेवाली भक्ति ही है। भक्ति ही भगवान्के पास पहुँचाती है, भक्ति ही भगवान्को खींच लेती है और भक्ति ही भगवान्का दर्शन कराती है। भक्तको ही भगवान् ज्ञानका उपदेश करते हैं।

अब अर्जुनकी भक्ति देखो। वे कहते हैं कि 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी शरणमें आया हूँ और प्रपन्न हूँ अर्थात् तुम्हारे पाँव पकड़ता हूँ। पाँवका तलवा नीचे होता है और पञ्जा ऊपर होता है। उसीको संस्कृतमें प्रपद बोलते हैं। प्रपद माने पदका प्रकृष्ट अंश, पाँवका ऊपरी हिस्सा। प्रपद्ये माने पकड़ लेना। अर्जुन कहते हैं कि मैंने अब तुम्हारे पाँव पकड़ लिये हैं श्रीकृष्ण! तुम मुझे ज्ञानका उपदेश करो।

यहाँ देखो; अर्जुनमें पहले श्रीकृष्णके प्रति भक्ति हुई और फिर प्रपत्ति हुई। यह प्रपत्ति अथवा शरणागति भी दो तरहकी होती है—एकको बोलते हैं मर्कट-शरणागति और दूसरीको बोलते हैं मार्जार-शरणागति। मकर्ट-शरणागतिको ऐसे

समझो कि बन्दरका बच्चा अपनी माँको दोनों हाथोंसे पकड़े रहता है। वह कितनी भी उछले-कूदे, इधर जाये-उधर जाये, कितनी भी चञ्चलता करे पर उसका बच्चा उसको बराबर पकड़े रखता है, छोड़ता नहीं। मार्जार-शरणागति उसको कहते हैं कि बिल्लीका बच्चा अपने आपको अपनी माँके भरोसे छोड़ देता है। उसकी माँ उसको अपने मुँहसे उठाती है और चाहे जहाँ उठाकर रख देती है। जिन दाँतोंसे वह चूहोंको चबा जाती है, उन्हीं दाँतोंसे पकड़कर वह अपने बच्चेको उठाती है और उसे जरा भी चोट नहीं आती। जैसे बिल्लीका बच्चा अपनी माँपर अपनेको छोड़ देता है, वैसे ही भगवान्‌के प्रति अपनेको समर्पित कर दे, मार्जार-शरणागति है और जैसे बन्दरका बच्चा अपनी माँको पकड़कर रखता है, वैसे ही भगवान्‌को पकड़ना मर्कट-शरणागति है और अपनेको भगवान्‌के ऊपर छोड़ देना मार्जार-शरणागति है। इसे रामानुज-सम्प्रदायमें दृप्तशरणागति और आर्त-शरणागति बोलते हैं। हम पकड़े हुए हैं—यह दृप्त शरणागति है और हम तो पकड़ नहीं सकते,भगवान् हमको पकड़े हुए हैं—यह आर्त-शरणागति है। इसमें विश्वासकी पराकाष्ठा है। जिसकी हमें शरण लेनी है, वह सर्वज्ञ होना चाहिए, शक्तिशाली होना चाहिए और दयालु होना चाहिए। तभी उसकी शरण ग्रहण की जाती है।

अर्जुन प्रपन्न हैं भगवान्‌के और भगवान् प्रपन्न-पारिजात है। जो उनकी शरणमें आवें, उसके लिए कल्पवृक्ष हैं। भगवान् भक्तको अपने पास पहुँचानेमें भी मदद करते हैं और पहुँचनेपर उसके सारे काम बना देते हैं।

संसारमें तीन तरह के भक्त होते हैं। एक तो वे होते हैं जो भक्ति करते हैं भगवान्‌की और उनसे माँगते हैं संसार—हमको बेटा दे दो, धन दे दो, हमारा व्याह करा दो, हमारी जीत करा दो आदि-आदि। दूसरे वे होते हैं, जो भक्ति करते हैं भगवान्‌की और उनसे माँगते हैं भगवान्‌को। उनका ख्याल होता है कि हम भगवान्‌की पूजा करते हैं, इतना ध्यान करते हैं, इतनी भक्ति करते हैं, साढ़े तीन करोड़ भगवन्नाम जपते हैं, उसके बदलेमें भगवान् हमें मिल जायें। लेकिन क्या भगवान्‌का मिलना साधारण बात है? यदि त्रिलोकीकी त्रैकालिक सम्पत्ति भी तराजूके पलड़ेपर रख दी जाय तो वह भगवान्‌की कीमतकी बराबरी नहीं कर सकती। तीसरी तरहके भक्त केवल भजन करते हैं। वे न तो भक्तिके बदले भगवान्‌से संसार माँगते हैं और न भगवान्‌को माँगते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् हमारी भक्तिसे नहीं, अपनी करुणासे, अपनी कृपासे मिलते हैं। जब भगवान् यह देखते हैं कि हम उनके लिए व्याकुल हैं, उत्सुक हैं, उनसे प्रेम करते हैं, तो वे स्वयं

आकर हमसे मिलते हैं। इस प्रकार एक जगह साधन हैं भगवान् और साध्य है संसार, दूसरी जगह साधन है अपनी भक्ति और साध्य हैं भगवान् और तीसरी जगह भगवान् ही साधन हैं, भगवान् ही साध्य हैं। शरणागत भक्त यह कहता है—

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तय:।
नान्यत् किंचित्तु जानामि त्वमेव शरणं मम॥

हे नाथ, मेरी बुद्धि कुण्ठित हो गयी, सारी युक्तियाँ समाप्त हो गयीं, अब मुझे अपने किसी साधनाका भरोसा नहीं है। अब तो बस आपका आश्रय है, आपकी ही शरण है। इसलिए : 'त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये' मैं आपके चरणोंमें शरणागत हूँ।

गीताके प्रारम्भमें अर्जुनकी प्रपत्ति है—वह श्रीकृष्णके प्रपन्न हुआ और उसके पाँव पकड़ लिये। किन्तु गीताके अन्तमें अर्जुनकी शरणागति है। स्वयं भगवान्ने कहा है :'मामेकं शरणं व्रज'—एकमात्र मेरी शरणमें आजाओ।

जबतक ईश्वरकी भक्ति चित्तमें नहीं आयेगी, तबतक संसारकी भक्ति बनी रहेगी। आप यह मत समझना कि आपका अन्त:करण संसारकी भक्तिसे मुक्त है। आप जन्म-जन्मसे, अनादिकालसे संसारमें रहते आये हैं और संसारमें प्रीति करते रहे हैं। धनसे प्रीति है, कुर्सीसे प्रीति है और सगे-सम्बन्धियोंसे प्रीति है। हृदयमें आसक्ति तो संसारके प्रति है और ज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। लेकिन गीध और चील चाहे जितना ऊँचा उड़ें, उनकी नजर तो धरतीपर पड़े मांसके टुकड़ोंपर ही रहती है। परन्तु जब भगवान्से प्रीति हो जाती है, तब संसारके प्रति जो आसक्ति है, आर्कषण है, वह नहीं होता। गीतामें यह बात स्पष्ट है कि ज्ञान भगवान्के भक्तको ही होता है।

एक बात और, कई लोग भक्तिसे परहेज करते हैं। यह परहेज शब्द भी संस्कृतका ही है। 'परिजिहासा, परिजिहीर्षा'—अर्थात् त्याग करनेकी इच्छा और परहेज माने छोड़नेकी इच्छा। कितना साम्य है। जो लोग भक्तिसे परहेज करते हैं और ज्ञान चाहते हैं उनको ज्ञानके बैठनेकी जगह बनानी पड़ती है। जब हम अपने घरमें किसी बड़ेको बुलाते हैं तो उनके लिए कमरेको साफ करना पड़ता है, बैठनेके लिए कुर्सी देनी पड़ती है, रोशनी करनी पड़ती है, पंखेकी व्यवस्था करनी पड़ती है, और उसको भोजन देना पड़ता है। फिर जब हम ज्ञान परमेश्वरको अपने हृदयमें बुलाना चाहते हैं तो क्या कूड़े-करकटमें बुलायेंगे, जहाँ कुछ भी रोशनी नहीं है वहाँ बुलायेंगे? जहाँ साँस लेनेके लिए जगह नहीं है, वहाँ बुलायेंगे? मुसाफिर-खाने में बुलायेंगे? हमारा दिल तो एक खासा मुसाफिरखाना हो गया है। उसमें दस आते हैं,

दस जाते हैं, उसीमें चाहते हो कि भगवान् भी आजायँ? नहीं-नहीं, भगवान्के बैठनेके लिए जगह बनानी पड़ेगी।

लेकिन जगह कौन बनायेगा? भक्ति देवी बनायेंगी। जब भक्ति देवी आती हैं, तब भगवान्के लिए सब व्यवस्था कर लेती हैं। उनको पता होता है कि ज्ञान भगवान् किस रास्तेसे आयेंगे? क्या खायेंगे-पीयेंगे?

एक बार मुझे किसीने कहीं बुलाया था। जगह क्या थी, मुझे आश्चर्य हुआ, जब उस प्रेमीने बताया कि मैं रातभर इस कमरेमें रहकर यह देख चुका हूँ कि कहाँ पानी रखनेमें सुविधा रहेगी, कहाँसे बाथरूम जाना ठीक रहेगा और किधरसे भोजनके लिए जानेमें आसानी रहेगी, यह सब हमने पहले समझ लिया है। आपकी सुविधाकी दृष्टिसे ही हमने ऐसा किया।

जब भक्ति देवी हृदयमें आती हैं, तब अकेले नहीं आती, वे निर्विषयक नहीं होतीं। भक्तिके पेटमें कुछ-न-कुछ रहता ही है। जाति-भक्तिमें जाति होती है, समाज-भक्तिमें समाज होता है, देश-भक्तिमें देश होता है; परन्तु भगवद्गीतामें केवल भगवान् होते हैं, भगवद्गीता केवल भगवद्विषयक होती है।

अब देखो, भगवान् आपसे परोक्ष हैं कि अपरोक्ष? आपको भगवान्का दर्शन होता है या नहीं? भगवान् हैं क्या? इन प्रश्नोंपर विचार करो। आत्मा अपरोक्ष है। इसलिए उसका विवेक होता है—यह आत्मा है, यह अनात्मा है। मैं यह नहीं हूँ, इससे न्यारा हूँ—इस विचारका नाम होता है विवेक। 'विचिर पृथग्भावे'—जिससे तुम मिल गये हो, उससे अपनेको अलग करो। लेकिन परमेश्वरके बारेमें ऐसा ख्याल नहीं है कि वे अपरोक्ष हैं। यही ख्याल है कि वे परोक्ष हैं, आँखोंसे ओझल हैं।

इसलिए उनके विवेकमें सूखा विवेक नहीं चलेगा। यदि परमात्माको संसारसे अलग करना है तो सूखे विवेकसे काम नहीं चलेगा, उसके लिए तो श्रद्धा-सहित विवेक चाहिए। जो परोक्ष तत्पदार्थ है, तत्-पदका वाच्यार्थ है, कहाँ परमात्मा है और क्या परमात्मा है—यह ज्ञान प्रीतिके बिना सम्भव होगा ही नहीं। प्रीतिविशिष्ट विवेकको ही भक्ति कहते हैं और प्रमाण-विशिष्ट प्रमाण-मूलक विवेक केवल विवेक कहलाता है। अपनेको ढूँढ़ा जाता है केवल विवेक करके और परमात्माको ढूँढ़ा जाता है भक्तियुक्त विवेक द्वारा। यदि भक्ति नहीं होगी तो परोक्ष वस्तुका अनुसन्धान होगा ही नहीं, यदि परोक्ष वस्तुके प्रति श्रद्धा न हो, उसके मिलनेसे कोई लाभ न हो और उसके मिलनेका कोई प्रयोजन न हो तो उसकी खोजमें कोई क्यों लगेगा?

भक्ति माने विभाग—भागो भक्तिः। भजनं भागः। यह विभाग करो कि संसार क्या है? भगवान् क्या है? संसार और भगवान्के विश्लेषणका नाम भक्ति है। परन्तु यह विश्लेषण, यह विभाग, यह विवेक, जबतक प्रेम नहीं होगा, श्रद्धा नहीं होगी तबतक नहीं होगा।

हमारे अन्तःकरणमें जो ज्ञान है, वह प्रीति विशिष्ट है अर्थात् ईश्वरका ज्ञान प्रीतिसे भरा हुआ है। साक्षीका ज्ञान प्रीतिकी अपेक्षा नहीं रखता। जब प्रीति विशिष्ट ज्ञान होगा तो वह सविषयक हो जायेगा। विशिष्ट ज्ञानका विषय भी विशिष्ट होगा। इसलिए हमारे हृदयमें जो भक्ति होगी, उसमें सगुण सविशेष परमेश्वर आजायेगा।

देखो, एक अन्तःकरण है और उसका प्रकाशक साक्षी है, चेतन है। यह बात मैंने वेदान्तियोंको समझानेके लिए कह दी है। यदि अन्तःकरणका साक्षी चेतन है तो उस अन्तःकरणमें जो भक्ति है और उस भक्तिमें जो भगवान् है, उसका साक्षी कौन है? तुम्हारे अन्तःकरणका जो चेतन है, भक्त्याकार परिणत अन्तःकरणका जो भगवदाकार है, उस आकारका चेतन कौन है? बिलकुल एक ही है। इसलिए तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थकी एकतामें, लक्ष्यार्थकी एकताके ज्ञानमें, यह तत्पद-वाच्यार्थ और त्वंपद-वाच्यार्थका अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य एक है। यह त्वंपद-वाच्यार्थ है, लक्ष्यार्थ है। भक्तिमें भगवदाकारसे अवच्छिन्न जो चैतन्य है-वह तत्पद-वाच्यार्थ है। दोनोंमें जो चेतनकी एकता है वह लक्ष्यार्थ है।

मतलब यह कि जो आत्माके रूपमें चेतन है, वही परमात्माके रूपमें भी चेतन है। यह अनुभव, यह ज्ञान, भक्तिसे हो जायेगा। 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'—भक्तिसे ज्ञान हो जायेगा और फिर भक्ति तथा ज्ञान दोनोंकी एकताका ज्ञान हो जायेगा। भक्ति माने श्रद्धापूर्वक भगवान्का अनुसन्धान। परोक्ष पदार्थका अनुसन्धान तब होगा, जब उसमें थोड़ा मज़ा आने लगेगा—

सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति।

जो ज्ञान भगवद्विषयक होता है, वह थिरकता हुआ होता है, नाचता हुआ होता है, पाँवका नूपुर बज गया, ठुड्डी हिल गयी, होंठोंपर मुस्कान आगयी, आँखोंपर प्यार आगया, पीताम्बर फहरा गया। यह सब क्या है? ज्ञान नाच रहा है। नाचते हुए ज्ञानको, थिरकते हुए ज्ञानको, संस्कृत भाषामें 'उल्लसित ज्ञान' बोलते हैं। जैसे गङ्गाजीकी धारामें वायुके स्पर्शसे मन्द-मन्द थिरकन होती है, तरङ्ग उठती है, वैसे ही जब ज्ञान लहराता है, तब उसको भक्ति बोलते हैं। जब अपना हृदय

भगवान्‌के लिए तरङ्गायमान होता है, तब उस तरङ्गायमान वृत्तिको भक्ति कहते हैं। चेतन दो नहीं होता, एक ही होता है। भगवान्‌के माहात्म्य-ज्ञानसे आती है भक्ति और भक्तिसे उत्पन्न होता है भगवत्स्वरूपका ज्ञान, दोनों एक दूसरेके वर्द्धक हैं, पूरक हैं।

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथा-श्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥

श्रीमद्भा० ११.१४.२६

जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध होता जाय, वैसे-वैसे भगवान्‌के पुण्य-चरित्रका श्रवण करो और वर्णन करो। भगवान्‌के दर्शनका यही उपाय है।

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

श्रीमद्भा० १.८.३६

यदि वक्ता मिल जाय तो सुनते हैं और यदि श्रोता मिल जाये तो गाते हैं। लेकिन गानेकी अपेक्षा सुनना अच्छा है। क्योंकि गानेसे कर्म होता है और कर्मसे लय होता है; श्रवणसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे जागरण होता है। बोलना कर्मकी कोटिमें है और सुनना ज्ञानकी कोटिमें है। गायें भी तो स्वाद ले-लेकर गायें, बिना मनके नहीं गायें। जब हम भगवान्‌का स्वाद लेने लगते हैं, तब उसमें प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है और भगवान्‌का स्मरण होने लगता है। सुनते हैं, गाते हैं और यदि सुननेवाला या सुनानेवाला न हो तो मनसे ही गुनगुनाते हैं। इन तीन साधनोंसे भगवान्‌का स्मरण करते हैं और स्मरण करते हुए आनन्द लेते हैं—

त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकम्।

संसारकी बहिर्मुखताको मिटानेवाली एक बात आप ध्यानमें रख लो। प्रीति और दुःख ये दोनों तो एक साथ रह सकते हैं। अपने प्रियतमके लिए प्रीति कभी दुःखदायिनी भी हो सकती है। लेकिन प्रीति और द्वेष—ये दोनों कभी भी एक अन्तःकरणमें नहीं रह सकते। एक अन्तःकरणमें एक साथ प्रीतिका भी रस रहे और द्वेषकी आग भी जले—यह कैसे हो सकता है? द्वेष प्रीतिका विरोधी है, परन्तु दुःख प्रीतिका विरोधी नहीं है। इसलिए भगवान्‌के लिए दुःखी होना भी प्रेम है। किन्तु दूसरेके लिए दुःखी होना प्रेम नहीं है।

प्रीति जितनी-जितनी तत्पदवाच्यार्थमें बढ़ेगी उतनी-ही-उतनी संसारकी

प्रीति घटेगी और जब त्वंपदार्थका विवेक होगा तब देहादिके साथ जो तादात्म्य है, वह छूटेगा। वहाँसे संसार हटेगा और यहाँसे देहादिका अभिमान हटेगा। भक्ति तत्पदार्थको शुद्ध करती है, विवेक त्वंपदार्थको शुद्ध करता है तथा धर्म अन्तःकरणकी उपाधिको शुद्ध करता है। तत्पदवाच्यार्थके शोधनके लिए भक्ति है, त्वंपदवाच्यार्थके शोधनके लिए विवेक है और उपाधिके शोधनके लिए धर्म है। इन तीनों बातोंका समन्वय करना हो तो कहेंगे, धर्मानुष्ठान होनेपर भक्ति आयेगी, भक्ति आनेपर भजनीयका साक्षात्कार होगा और भजनीयका साक्षात्कार होनेपर आत्मा और परमात्मा दोनोंकी एकताका बोध होगा, जो कि स्वतः सिद्ध हैं। इसलिए भक्ति ज्ञानके पास पहुँचा देती है।

इसी तरह भजनीय तत्त्वके माहात्म्यका ज्ञान होनेपर भक्ति आती है, फिर सम्बन्ध बनता है और सम्बन्धसे चिन्तन होने लगता है। चिन्तन-स्मरण होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और इस ज्ञानमें परिपक्वता आजाती है कि भगवान् क्या है?

पहले बताया जा चुका है कि भक्ति शब्दका एक अर्थ है भाग, विभाग होता है—'भागो भक्तिः और भञ्जनं भक्तिः।' जैसे 'रञ्जनं रक्तिः' 'अनुरञ्जनम् अनुरक्तिः' 'व्यञ्जनं व्यक्तिः' बनता है और एसे ही 'भञ्जो आमर्दने' धातुसे 'भञ्जनं भक्तिः' बनता है। एक अर्थ यह भी है—'भजनं सेवनं, आस्वादनम्' जैसे बैल, कोई चीज पहले खा लेता है—भूसा खा लेता है, खली खा लेता है, घास चर लेता है और उसके बाद बैठकर आरामसे खाये हुएको मुँहमें लाकर पागुर जुगली करता है, चुभलाता है, उसका स्वाद लेता है, वैसे हम पहले पढ़ लें, बोल लें, सुन लें और फिर उस पढ़े हुएको, बोले हुएको, सुने हुएको अपने हृदयमें-से निकालकर स्मृति-पटलपर ले आयें और उसका स्वाद लें। 'भजनं नाम रसनम्'—इसका नाम होता है भक्ति। इससे संसारकी आसक्ति छूटती है, हमारे जो फँसाव हैं, बन्धन हैं वे टूटते हैं और भगवान्‌की ओर रति बढ़ती है।

'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति'—पहले श्रद्धा होती है उसके बाद रति आती है और फिर भक्ति आजाती है।

अब देखो, भक्ति और ज्ञानका साधन क्या है? भगवान्‌ने तेरहवें अध्यायमें कहा है कि 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' अर्थात् अनन्य योगके द्वारा भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति होती है। चौदहवें अध्यायमें कहते हैं कि भक्तिसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

अब ज्ञानमें होता क्या है, यह देखो और तत्पदार्थका भी अवलोकन करो—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जब सब परमेश्वर है तो जो देखेंगे, वे भी परमेश्वर हैं। यहाँ देखो 'त्वं' पदार्थ—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

अब 'असि' पदार्थ देखो—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

असि पदार्थ दोनों एक ही हैं, यह बताता है। गीताकी भक्ति कैसे ज्ञान दे देती है और ज्ञान कैसे भक्ति देता है, यह देखो—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।

इसका नाम है ज्ञान और—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।

यह ज्ञान देता है भक्ति—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ६ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

गीताको भगवता गीता कहिये या भगवती गीता एक ही बात है। भगवान्‌ने गान किया है इसलिए इसको भगवद्‌गीता बोलते हैं और गीता स्वयं भी भगवती है। भगवान् श्रीकृष्णने गीताके अन्तमें कुछ घोषणा की है। जैसे कोई व्यापारी अपना माल लेनेपर कमीशन देनेकी घोषणा करता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने गीताका अध्ययन-अध्यापन करनेवालों, पढ़ने-पढ़ानेवालोंके लिए कमीशनकी घोषणा की है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'इति मे मतिः' मेरा दृढ़ निश्चय है कि यह गीता और मेरे मित्र अर्जुनका 'धर्म्य संवाद' है। इसमें कहीं भी धर्म छूटा नहीं है—'धर्मादनपेतं धर्म्यम्'। एक तो विवाद होता है और दूसरा संवाद होता है। गीता मित्र-मित्रका विवाद नहीं, गीता मित्र-मित्रका संवाद है। इसमें हम दोनोंका मत एक है, दोनोंकी राय एक है। जो मेरी राय, वही अर्जुनकी राय, हम दोनोंका मत मिल गया है। इसलिए इसका अध्ययन करो, इसको पढ़ो; यह आपके कामकी चीज है। इसका अध्ययन करनेसे आपका ज्ञान-यज्ञ होगा। जो यज्ञ होता है, वह ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञान होता है, वह यज्ञ नहीं होता। ज्ञान बुद्धिमें होता है और यज्ञ कर्मसे होता है। इसका जो पठन-पाठन होगा, वह तो क्रिया होगी, कर्म होगा, किन्तु उससे बुद्धिमें जो भगवान् आयेंगे, वह ज्ञान-यज्ञ होगा।

गीताका अध्ययन-अध्यापन एक यज्ञ है और गीता सिद्ध वस्तुका ज्ञान करानेवाला शास्त्र है। जो यज्ञ-यागादिमें रत होते हैं, उनकी ज्ञानमें रुचि नहीं होती और जो वेदान्ती हो जाते हैं, ज्ञानी हो जाते हैं, वे कर्ममें रुचि नहीं रखते। परन्तु गीता

ऐसी है, जो एक साथ परमात्माका ज्ञान और यज्ञ दोनोंको हमारे जीवनमें लाती है। यज्ञमें दान-आदान होता है—ब्राह्मणको देते हैं, पहरेदारको देते हैं, सामग्री लानेवालेको देते हैं, काम करनेवालेको देते हैं। एकत्र की हुई पूँजीका चातुर्वर्ण्यमें वितरण होता है। क्रिया पवित्र होनेसे मनुष्य पवित्र होता है और उद्देश्य पवित्र होनेसे वह श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त होता है। इसलिए श्रीकृष्णने बताया है कि—'**य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।**' खासकर जो हमारे भक्त हैं, उनको इसका उपदेश करना, अभिधान करना, वर्णन करना। यदि तुम अनावश्यक बातोंका वर्णन करोगे तो तुमको क्या मिलेगा? लेकिन यदि तुम हम दोनों मित्रोंका यह परम गुह्य भक्तोंको बताओगे तो '**भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः**'—तुम्हारे हृदयमें भक्त आजायेगी, तुम स्वयं भक्ति हो जाओगे।

भगवान्‌ने एक बात यह बतायी कि '**ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्याम्**'—जो इसका अध्ययन करेगा, भक्तोंको सुना देगा, वह ज्ञान यज्ञके द्वारा मुझे प्रसन्न कर लेगा, उसे मेरी प्रसन्नता प्राप्त होगी, भक्ति मिलेगी और दूसरी बात भगवान्‌ने ऐसी बतायी जिसके बराबरकी बात कहीं अन्यत्र सुननेको कठिनतासे मिलेगी। वह बात क्या है, देखो—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो गीताका अध्ययन कर रहा है और जो भक्तोंको गीता सुना रहा है, उससे अधिक प्यारा दुनियामें, मनुष्य जातिमें, मेरा कोई नहीं है। यह बात मैं केवल वर्तमानके लिए नहीं, भविष्यके लिए भी कहता हूँ कि इस पृथिवीपर गीताका अध्ययन-अध्यापन करनेवालेसे अधिक प्यारा कभी कोई होगा ही नहीं। तो जो भगवान्‌के इस दिव्य संगीतका, ऐसे दिव्य संगीतका जो युद्ध-भूमिमें, कर्म-भूमिमें प्रकट हुआ, स्वयं गायन करेगा और दूसरोंको भी सुनायेगा, उसे भगवान्‌के अनन्त प्रेमकी प्राप्ति होगी। यह ऐसा अद्भुत संगीत है, जिसमें कोई साज नहीं है—न तबला है, न सारंगी है, न वीणा है, न सितार है, यहाँतक कि भगवान्‌की प्रिय बाँसुरी भी नहीं है फिर भी इसकी इतनी महिमा है कि इसको सुनने-सुनाने और जीवनमें धारण करनेसे भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक यह घोषणा करते हैं कि उससे बढ़कर मेरा प्यारा और कोई नहीं है।

प्रश्न उठता है कि गीतामें ऐसी क्या बात है? उसको पढ़ने-पढ़ानेवाला और उसका श्रवण-मनन करने-करानेवाला भगवान्‌को इतना प्यारा क्यों है? बात

यह है कि वह बहुत बड़ा दान करता है, यज्ञ करता है। यज्ञमें कुछ देना और लेना दोनों होते हैं। जब हम अग्निमें आहुति डालते हैं तब वह देना हो गया और जब वेद-मन्त्रोंके उच्चारणके साथ आहुति देते समय अग्निकी जो ज्योति हमारे शरीरमें प्रविष्ट करती है, वह हमें स्वास्थ्य देती है, शुद्ध चरित्र देती है, पवित्र मन देती है, और हमारी बुद्धि विकसित करती है। यज्ञमें एक चीज और होती है, उसपर आप ध्यान दें। उसके लिए कोई-न-कोई नियम ग्रहण करना पड़ता है—नियमित स्नान और सन्ध्यावन्दन करना, पवित्र वस्त्र धारण करना, यज्ञ-भूमिमें बैठना, सात्त्विक भोजन करना और शुद्ध आसनपर शयन करना आदि। इन नियमोंको धारण करनेपर अपने-आप बहुत-सी बातोंका त्याग हो जाता है और जीवनमें ऐसे आत्मबलकी वृद्धि होती है, जिससे हम किसी भी संकटका सामना कर सकते हैं। इसलिए कहा गया है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—(कठ०१.२.२३) जिसके जीवनमें आत्मबल नहीं है, उसको आत्मा और परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता।

हमारे श्रीउड़िया बाबाजीसे किसीने पूछा कि सिद्धि क्या होती है, बाबाजी बोले कि बरदाश्त करनेका नाम सिद्धि है। भूख सह लो तो अन्नकी सिद्धि हो जायेगी, बिना किसी सम्पदाके रह लो तो सम्पदा अपने-आप आने लगेगी। अपने संकल्पोंसे, विकल्पोंसे, संस्कारों-विकारोंसे मुक्त होकर बैठो तो आकाशमें फैले हुए बड़े-बड़े महापुरुषोंके विचार तुम्हारे हृदयमें आने लग जायेंगे। मनुष्य-जीवनका विकास सहिष्णुतासे ही होता है। 'पीडोद्भवया सिद्धया'–जितनी भी सिद्धियाँ निकलती हैं, वे सब कष्ट-सहनसे ही निकलती हैं। जो लोग बार-बार जेल गये, वे मन्त्री हो गये, राष्ट्रपति हो गये। जिन्होंने तपस्या की वे सिद्ध हो गये।

गीताका ज्ञान-यज्ञ है श्रवण-मनन। यह ज्ञान-यज्ञ आपके जीवनमें-से दो बातोंको निकालना चाहता है। श्रीकृष्ण गीता सुनानेके बाद पूछते हैं कि **'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय'** अर्जुन, क्या तुम्हारा अज्ञान-सम्मोह नष्ट हुआ? अज्ञान-सम्मोहका सीधा अर्थ है भूल, जो जीवनमें होती रहती है। गीता उन भूलोंको मिटा देती है। इसके अतिरिक्त वह दूसरी बात क्या मिटाना चाहती है, इसपर आप ध्यान दें—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावदांश्च भाषसे।

नानुशोचितुमर्हसि। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।

श्रीकृष्ण अर्जुनसे यह नहीं कहते कि तुम अगले जन्ममें एक श्रेष्ठ पुरुष बनना। वे तो कहते हैं कि तुम इसी जीवनमें श्रेष्ठ पुरुष हो जाओ। स्वर्गमें जाकर देवता नहीं बनना, इसी जीवनमें देवता बन जाओ।

हमारे जीवनमें शोक और मोह छाये हुए हैं। शोक और मोह क्या होते हैं, यह देखिये। पहले शोकको लीजिये। जब हम अपने जीवनमें पीछे छूटी हुई अच्छाइयों अथवा बुराइयोंको याद करते हैं तब शोक होता है। शोक माने वह भूत-वृत्ति, जो हमारे वर्तमानको भूत लगा दे। आप लोग भूत-प्रेतकी बात सुनते होंगे। एक सज्जनकी श्रीमती तीस बरस पहले मर गयी थीं। एक दिन वे हमारे साथ भोजन करने बैठे तो उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे। कारण पूछनेपर उन्होंने बताया कि बढ़िया भोजन देखकर धर्म-पत्नीकी याद आ गयी। ऐसा ही बढ़िया भोजन वह बनाती और अपने हाथोंसे परोसती थी। इसीको बोलते हैं भूत लगना। उन सज्जनको अपनी धर्म-पत्नीका भूत लगा था, बीती हुई बात उनके वर्तमानपर छायी हुई थी। उनको वर्तमानका सुख नहीं मालूम पड़ता था, उनके वर्तमानको भूत अभिभूत कर देता था। महाभारतके अनुसार यह उत्तम पुरुषका लक्षण नहीं है।

अब जो मनुष्यको भय लगा रहता है वह क्या है? वह भविष्यद्-वृत्ति है। आगे कहीं ऐसा न हो जाये, वैसा न हो जाये। यह भी हमारा एक मानसिक दोष है। अरे भाई, यदि सचमुच भय आनेवाला है तो डरते क्यों हो, उसका सामना करनेकी तैयारी करो। यदि वह नहीं आया तो ठीक है, अन्यथा आगया तो उसका सामना करो। भयका सामना करो उसकी चिन्ता मत करो। भय ऐसी चीज है कि उसके आते ही हृदयकी धड़कन बढ़ जाती है, चिन्ता आते ही सिर में दर्द होने लगता है। जब वर्तमानपर भविष्य छा जाता है, तो इस समय हमारे पास जो कुछ भी है, वह सब दब जाता है। भविष्य हमारे वर्तमानको दबा देता है।

और मोह? मोह यह है कि वर्तमानमें हमारे पास जो कुछ है, वह बना रहे और साथ-साथ चले। जैसे हमारी उम्र चलती है, वैसे वह भी हमारे साथ चले। लेकिन महाराज चाहे जो भी उपाय करो, ये काले बाल साथ नहीं चलेंगे। ये चम-चम चमकते दाँत भी साथ नहीं देंगे, यह चमकता चेहरा भी साथ नहीं देगा, धन-दौलत तो आती-जाती रहती है, बढ़ती-घटती रहती है—यह भी साथ नहीं देगी। इसलिए जो बीत गया उसको बीत जाने दो, जो आनेवाला है उसको आने दो और

जो वर्तमान है इसमें कहीं अटको मत। इससे मोह मत करो। हम आपको पहले भी बता चुके हैं कि शोक माने पाँवका पीछे फिसलना, भय माने पाँवका आगे फिसलना और मोह माने वर्तमानके दलदलमें फँस जाना। तुम इनके चक्करमें पड़ोगे तो तुम्हारी प्रगति रुक जायगी, उन्नति रुक जायगी। इसलिए तुम्हें शोक, भय और मोह तीनोंसे मुक्त होना है तथा उनसे मुक्त करनेकी सामर्थ्य केवल गीतामें है। इसलिए कहते हैं—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥

श्रीमद्भा० १.७.७

गीता शोक-मोहभयापहा है। शोक, मोह, भय ये तीनों मानसिक-करण हैं; शोक भी मनमें होता है, भय भी मनमें होता है और मोह भी मनमें होता है। इसलिए जहाँ जो चीज होती है, वहाँसे ही हटायी जाय तभी वह हटती है। यदि कहो कि पहले हम इसके कारणको हटायेंगे—जैसे किसी रोगके कारण शोक हुआ तो रोगको हटायेंगे, तो यह उपाय ठीक नहीं है। क्योंकि रोग तो एक जाता है, दूसरा आता है। जिन्दगीमें रोग आते ही जाते रहते हैं। उनके साथ शोक भी लगा ही रहेगा। इसलिए आप निमित्तको दूर करके शोकमुक्त नहीं हो सकते और निमित्तको दूर करके मोहमुक्त नहीं हो सकते तथा निमित्तको दूर करके भयमुक्त नहीं हो सकते। इनसे मुक्त तो तब होंगे जब आप अपने मनको, हृदयको, अन्तःकरणको शुद्ध बनायेंगे और उसमें भगवान्‌की भक्ति तथा ज्ञानकी स्थापना करेंगे। देखो, यहाँ भी भक्ति-ज्ञानका समन्वय! गीता कहती है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।

जो मर गया, उसके लिए शोक मत करो। क्योंकि वह तो मर ही गया और जो जिन्दा है उसके लिए भी शोक मत करो; क्योंकि वह तो जिन्दा ही है। मृतके लिए भी शोक नहीं, जीवितके लिए भी शोक नहीं। हृदयमें एक सामञ्जस्य आना चाहिए। गीताकी मुक्ति मरनेके बाद मिलनेवाली मुक्ति नहीं है, गीताका सुख मरनेके बाद मिलनेवाला सुख नहीं है, गीता तो इसी जन्ममें, इसी समय आपको जीवन-मुक्ति और शाश्वत सुख प्रदान करनेके लिए आयी है। यह भगवती गीता हमारे त्राणके लिए अवतीर्ण हुई हैं। अर्जुन 'शोकसंविग्नमानसः'—शोकग्रस्त और धर्मसंमूढचेता, मूढ़ हो गया था। इतना ही नहीं, वह विराट् रूपको देखकर भयोद्विग्न भी हो गया था—'भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'। परन्तु भगवती गीताने उसके हृदयसे

शोक, मोह और भय इन तीनोंको भगा दिया। जैसा कि मैंने कहा, यह भगवती गीता मरनेके बाद हमारा अदृश्य—आँखोंसे ओझल उपकार करनेके लिए नहीं, इसी जीवनमें तत्काल कल्याण करनेके लिए आयी है। गीता हमारी माँ है और माँ अपने बच्चेको तत्काल सुखी करना चाहती है। यह माँका स्वभाव है कि वह रोते हुए बच्चेपर तत्काल ध्यान देती है। इसलिए यह गीता माता भी रोते हुए अर्जुनको तत्काल सुखी करनेके लिए अवतीर्ण हुई।

महाभारतकी गायत्री अलग है और वेदोंकी गायत्री अलग है। 'गायनं त्रायते'—गायत्री वह है जो गानेवालेकी, जय करनेवालेकी, पाठ करनेवालेकी रक्षा करे, पालन करे। 'त्रायते'में रक्षा और पालन दोनों है। गायत्री भी पालन करती है और रक्षा करती है। अनिष्टसे बचाती है और इष्ट-दान करती है।

चारों वेदोंमें मिलनेवाली गायत्री ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन कराती है। कहती है—आओ-आओ, ईश्वरका दर्शन करो। कहाँ है ईश्वर? यह रहा हमारी बुद्धिके पीछे। हमारी बुद्धि क्षण-क्षणपर बदल रही है, वृत्तिपर-वृत्ति आ-जा रही है और मैं देख रहा हूँ। परन्तु बुद्धिके और हमारे बीचमें वह कौन बैठा है, जो बुद्धिका संचालन करता है, बुद्धिको प्रेरणा देता है? बुद्धिके सामने जो कुछ है—उसकी तरफ आप ध्यान न दें। जो आपके सामने है और आपकी बुद्धिके पीछे बैठकर बुद्धिको चला रहा है उसको देखिये—'धियो यो नः प्रचोदयात्'। हाथ कंगनको आरसी क्या? ईश्वर पीछे देखनेकी वस्तु नहीं है, वह तो हमारे सामने रहकर हमारी बुद्धिको प्रेरणा दे रहा है, बुद्धिका संचालन कर रहा है। 'प्रचोदयात्'का अर्थ केवल प्रेरणा करे, ऐसा नहीं होता। उसका अर्थ 'प्रेरयति' भी होता है, माने इसी समय वह हमारी बुद्धिका संचालन कर रहा है।

दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

भगवान् हमसे दूर नहीं, वह तो हमारे दिलमें है। है न अद्भुत बात? वह मरनेके बाद, स्वर्गमें जानेके बाद, बैकुण्ठमें जानेके बाद अथवा हम मरकर मुक्त होंगे—ऐसी बात नहीं है। वह तो अभी-अभी मिलनेवाला नकद माल है।

गीता 'मा शुचः'का सन्देश लेकर आयी है। वह कहती है कि—

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।

अर्जुन, तुम्हें दैवी सम्पत्ति मिली है और दैवी सम्पदामें शोकके लिए स्थान नहीं है। दैवी सम्पदा तो यह है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

अर्जुन, तुम्हारे अन्दर ये सभी सद्गुण हैं। दैवी सम्पदा, दिव्य सम्पत्ति, दैव सम्पत् तुम्हारे अन्दर आ चुकी है। इसलिए अब शोक मत करो।

मनुष्यका मन ऐसा है कि उसपर जो प्रभाव पड़ता है वह प्रकट हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति कहीं बाहरसे अपमानित होकर, पिटकर घरमें लौटे तो वह जैसे चिड़चिड़ाया हुआ होता है, वैसे ही जो लोग नरकसे या दुःख भोगकर आते हैं वे कुछ चिड़चिड़ाये होते हैं, सबके ऊपर बरस पड़ते हैं, टूट पड़ते हैं। उन्हें चोट तो लगी होती है पहाड़में, किन्तु वे घरकी कील फोड़ना चाहते हैं, घरमें आकर अपने भोगे हुए दुःखका बदला लेना चाहते हैं। ऐसे ही लोगोंके सम्बन्धमें भागवतका कहना है कि—

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।

कोई आदमी रुईके गोदाममें-से निकल आवे तो उसके शरीरमें इसकी गन्ध आती है, वैसे ही जो संसारमें दुःखी हैं, क्रोधी हैं, लोभी हैं, वे किसी गन्दी जगहसे आये हैं। अच्छाजी, अब ऐसे आदमी जायँगे कहाँ—जरा यह देखो! वे प्रेमसे पाँव रख रहे हैं, प्रेमसे देख रहे हैं, प्रेमसे बोल रहे हैं, अपने प्रियके पास जा रहे हैं या घबराये—चिड़चिड़ाये हुए हैं, बेमनसे जा रहे हैं, पाँव पटकते हुए जा रहे हैं और इधर-उधर देखते हुए जा रहे हैं। बुद्धके जीवनमें दस चर्याओंका वर्णन है। कामी पुरुषकी चाल कैसी होती है, क्रोधवाले पुरुषकी चाल कैसी होती है और चिन्तावाले पुरुषकी चाल कैसी होती है, इसका पता चल जाता है। इसका भी पता चल जाता है कि आगे ये मुक्त होंगे कि नहीं? 'भविष्यगतश्च भद्रं ते तथा च न भविष्यतः'—यह भी ज्ञात हो जाता है कि अब इनका पुनर्जन्म नहीं होगा, ये लोकान्तरमें नहीं जायँगे, निर्वासन हो जायेंगे, जीवन-मुक्त हो जायेंगे।

आप दूसरोंको न देख सकें तो अपने-आपको ही देख लें, पहचान लें। आपकी वासना पूरी होती है तब आप सुखी होते हैं या वासनाकी निवृत्ति होती है तब सुखी होते हैं? यदि वासना पूरी होनेसे सुखी होते हैं तो अभी आपको संसारमें रहना है। लेकिन यदि आप वासनाकी निवृत्तिसे सुखी होते हैं तो समझिये कि आप संसारसे मुक्त होनेवाले हैं। इस प्रकार अपने-आपके या दूसरोंको देखनेपर स्थितिका पता चल जाता है।

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

स्वर्गारोहेण ५.६१

यह महाभारतकी गायत्री है। इसका अर्थ है कि हजार बार शोकग्रस्त होना और हजार बार भयग्रस्त होना मूढ़ पुरुषका लक्षण है। बारम्बार शोक और भय मूढ़के जीवनमें आते हैं, ज्ञानीके, समझदारके जीवनमें नहीं आते।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने एक ओर तो यह बताया कि यदि हमारे जीवनमें सद्गुण आ जायँ तो शोक, मोह और भयके लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे दिव्य-दिव्य सद्गुणोंको धारण करनेपर हमारा जीवन शोक, मोह और भयसे मुक्त हो जायेगा। और दूसरी बात यह बतायी कि तत्पदवाच्यार्थ भगवान्की शरणमें जाओ।

इस दूसरी बातको स्पष्ट करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे प्यारे सखा, मेरे प्यारे हृदयधन अर्जुन, सुनो! मैं तुम्हें दिलकी बात बताता हूँ, अपना हृदय तुमको दे रहा हूँ। आज मैं तुम्हें गीताका उपदेश नहीं कर रहा हूँ, अपना हृदय दे रहा हूँ। यही मेरी पूँजी है, यही मेरा सर्वस्व है। यह मेरी छातीके भीतर छिपा हुआ है। परन्तु तुम्हें ऐसी अवस्थामें देखकर हमारा सर्वस्व अपने-आप ही प्रकट हो गया और वह मैं तुम्हें दे रहा हूँ। बस; मेरा यही कहना है कि : 'मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥' मेरी शरणमें आओ, मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

शोकके बहुत सारे निमित्त हैं। एक निमित्त है पाप। पापसे दुःखकी उत्पत्ति होती है। मनुजीने कहा है—'आत्मा वैवस्वतो नाम'—हमारे हृदयमें धर्मराज रहते हैं। 'तेन चेद् अविवादस्य'—यदि उनसे तुम्हारा कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं है, विवाद नहीं है तो तुमको तीर्थयात्रा करनेकी आवश्यकता नहीं है, सब तीर्थोंका तीर्थ तुम्हारे हृदयमें है। क्योंकि हृदयमें बैठे हुए धर्मराज तुमपर सन्तुष्ट हैं।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

तुम आत्मतुष्टि और आत्मग्लानिपर ध्यान रखो। यदि बुरे काम करोगे तो तुमको आत्मग्लानि जरूर होगी, दुःख जरूर होगा और यदि आत्मतुष्टिसे भरकर काम करोगे तो तुम उसी समय उस सत्कर्मका फल भोगोगे। जब आत्मतुष्टि होती है तब सत्कर्म तुरन्त सुख देते हैं। आप स्वयं सोचो कि जब आप किसीको दुत्कार

देते हो तो आपके मनमें ग्लानि होती है कि नहीं? यदि आप एक रोते हुएको हँसा दें, एक मनहूसको मुस्कान दे दें और एक दु:खीको एकबार सुखी कर दें तो यह आपका बड़ा भारी काम है। आप ही सोचें कि यदि आप जब किसी प्यासेको एक गिलास पानी पिलाते हो तो आपके मनमें सन्तोष होता है कि नहीं? आपकी यह गीता आपको इसी समय परमानन्द देनेवाली है। यह भगवती गीता आनन्द बाँटती हुई, रस बाँटती हुई, ज्ञान बाँटती हुई, जीवन बाँटती हुई सङ्गीतकी धारा प्रवाहित कर रही है। गीताका कहना है कि आपके हृदयमें ईश्वरका निवास है और ईश्वर 'पुण्यो गन्धः' है। उसके द्वारा तुम्हारे हृदयमें-से एक सौरभ, एक सुगन्ध निकलकर फैल रही है। 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'—ईश्वर रस है। इसलिए तुम्हारे हृदयमें-से रसकी फुहारें छूट रही हैं। ईश्वर सौन्दर्य-माधुर्यका निधान है, इसलिए तुम्हारे जीवनमें सौन्दर्य-माधुर्य प्रस्फुटित हो रहा है।

ईश्वर बड़ा कोमल है, बड़ा सुकुमार है। वह दयासे, प्रेमसे, करुणासे, वात्सल्यसे भरा हुआ है। इसलिए तुम्हारे जीवनमें भी ये सारे सद्‌गुण प्रकट होने चाहिए। ईश्वरमें अनन्त पौरुष है, इसलिए तुम्हारे भीतर भी एक बड़ा भारी पौरुष, एक बड़ी भारी शक्ति भरी पड़ी है; जिसके द्वारा तुम चाहो तो दुनियाको उलट-पलट सकते हो। तुम सुगन्धके, माधुर्यके, सौन्दर्यके, सौकुमार्यके, सौस्वर्यके एकमात्र आश्रय हो। तुम्हारे जीवनसे आनन्दकी, रसकी, मधुकी गङ्गा प्रवाहित होनी चाहिए। देखो, यह मन्त्र क्या कहता है—

मधु वाता मधु क्षरन्ति सिन्धवः। ऋग्वेद १.९०.६

मधु-मधु-मधु, चारों ओर मधु-ही-मधु। तुम्हारे जीवनसे मधु-ही-मधु बिखरे। तुम दुनियाको रुलानेके लिए नहीं पैदा हुए हो, दुनियाको लड़ानेके लिए नहीं पैदा हुए हो, तुम अपने स्वार्थ और भोगकी पूर्तिके लिए नहीं पैदा हुए हो। तुम तो उस ईश्वरके अंश हो, उस ईश्वरमें-से निकले हो जो सम्पूर्ण विश्वको अपने सुखसे, आनन्दसे भर दे।

गीता माता इस ज्ञानका, इस जीवनका वितरण करने आयी हैं, जो सत् है, चित् है और आनन्द है। मैं पहले बाइबिलमें यह वचन पढ़ा करता था कि—'तुम सब मेरे पास आओ, मैं तुम्हें शान्ति दूँगा।' परन्तु यह वचन निकला कहाँसे है? देखिये, यह गीतामें-से निकला है—

मामेकं शरणं व्रज। त्वां सर्वपापेभ्यो अहं मोक्षयिष्यामि। मा शुचः।

यही तो है वह मूल स्रोत जिसमें-से बाइबिलका उक्त आश्वासन-

वाक्य निकला है। हमारी गीता कहती है कि—भरोसा दूसरेका मत करो, एक मात्र मेरे भरोसेपर आ जाओ। मैं तुम्हें सारी अविद्यासे छुड़ा दूँगा, दुःखसे छुड़ा दूँगा।

अच्छा, दुःखसे तो छुड़ा दोगे। लेकिन दुःखका कारण तो पाप है। हुआ करे, मैं उस पापसे भी छुड़ा दूँगा। केवल पापसे ही नहीं, पापका कारण कर्तृत्व है, उससे भी छुड़ा दूँगा। कर्तृत्वका कारण भोक्तृत्व है, भोगके लिए ही कर्तृत्व आता है, इसलिए उससे भी छुड़ा दूँगा। फिर कर्तृत्व और भोक्तृत्वका कारण जो अज्ञान है, उस अज्ञानको भी छुड़ा दूँगा—'सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि।'

लौकिक अभिमानका क्या होगा? यह अभिमान तो ऐसा है जो धर्म करनेवालेको भी हो जाता है, जरूर हो जाता है। किन्तु धर्माभिमानीको पापका अभिमान भी करना पड़ेगा। जो अपने पुण्यको प्रदर्शित करेगा, धारण करेगा और यह कहेगा कि मैंने यह पुण्य किया, उसके द्वारा जब कभी पाप होगा तो उसकी जिम्मेवारी भी उसको अपने ऊपर लेनी पड़ेगी। यहाँ एक बात कहनेमें थोड़ा सङ्कोच होता है, क्योंकि पता नहीं कैसे-कैसे लोग बैठे हैं, लेकिन मुझे विश्वास है कि समझदारीसे सोचनेपर अन्यथा नहीं समझेंगे। मैं एक महात्माकी कुटियापर गया तो देखा कि उसके दरवाजेपर एक श्लोक लिखा था—

सर्वागीता मयाधीता प्राप्ता दृष्टिरियं मया।
सर्वधर्मपरित्यगी सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

इसका मतलब यह है कि—मैंने सारी गीता पढ़ ली और इस निश्चयपर पहुँचा कि यदि हम सब धर्मोंका परित्याग कर दें तो सब पापोंसे भी छूट जायँगे। यह सुनकर आप हँस लीजिये, लेकिन इसके तात्पर्यपर भी विचार कीजिये। जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम धर्म छोड़कर आओ, तो उसका अर्थ है धर्मका अभिमान छोड़कर आओ अन्यथा तुम्हें धर्मके अभिमानके साथ-साथ पापका अभिमान भी करना पड़ेगा। यदि तुम भगवान्‌को केवल मीठा-मीठा अर्पित कर दोगे अर्थात् केवल धर्म समर्पित कर दोगे तो भगवान् कहेंगे कि अरे, इसने अपने घरमें जो-जो अच्छाई थी वह सब मुझको दे दी, अब मेरा यह कर्तव्य है कि इसके पास जो-जो बुराई है, जो-जो दुःखदायी है उससे मैं इसे छुड़ाऊँ, अन्यथा मुझपर 'मीठा-मीठा गप्प, कडुवा-कडुवा थू' की भी लोकोक्ति चरितार्थ हो जायगी। लोग कहेंगे कि अच्छाईके अभिमानी तो भगवान् हो जाते हैं और बुराई दूर करनेके लिए जीवको कहते हैं? तो, वह बेचारा कैसे दूर करेगा? इसलिए भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

तुम जो कुछ भी करते हो, वह सब—केवल अपने पुण्य ही नहीं, अपने पाप भी—मुझको दे दो। इसी तरह जो खाते हो, जो होम करते हो, जो दान करते हो और जो तपस्या करते हो, वह मुझे समर्पित कर दो। मेरे प्यारे अर्जुन, बोलो, या प्रतिज्ञा करो—

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
यत् तपस्यामि भगवन् तत् करोमि त्वदर्पणम्॥

श्रीमद्‌भागवतमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' उद्धवसे भगवान् कहते हैं, क्या बढ़िया अर्थ है।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥

श्रीमद्भा० ११.२९.३४

देखो उद्धव, मनुष्य मौतसे घिरा हुआ है 'सर्वतो मृत्युः' मनुष्यके चारों ओर मृत्यु घेरा डाले हुए है। इसलिए उसे चाहिए कि वह अपने बल-पौरुषका अभिमान छोड़कर मेरी ओर देख ले, बस केवल एक बार देख ले और निवेदितात्मा—हाथ जोड़कर मेरी आँखसे आँख मिला ले, मेरे चरण-नखपर आँख जमाकर खड़ा हो जाय। जानते हो क्या होगा?—

सन्मुख होहिं जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहुँ तबहीं॥

लेकिन अघका नाश साधारण नहीं है, कर्म-सिद्धान्तके अनुसार अघ कहते हैं—**'न हन्यते भोगं विना इति अघः।'** भोगके बिना जिसका नाश न हो, उसको बोलते हैं—अघ। लेकिन अघ कबतक अटल है? जबतक मनुष्य भगवान्‌की ओर पीठ करके और दुनियाकी ओर मुँह करके खड़ा है। इसलिए जहाँ हो वहींसे जरा घूम जाओ और मेरे सम्मुख हो जाओ। जब संसारकी मृत्युसे और अभिमानसे अपना मुँह मोड़कर यह जीव भगवान्‌की ओर देखता है, तब भगवान् कहते हैं—'विचिकीर्षितो मे'। मया विशिष्टं कर्तुम् इच्छा—'विचिकीर्षितम्'—मैं स्वयं चाहता हूँ कि उसको विशिष्ट बना दूँ। अबतक यह साधारण मनुष्य रहा है, अब यह

महापुरुष हो जाय, सत्पुरुष हो जाय, इसके अन्दर मेरी विशेषताएँ प्रकट हो जायँ और जब मैं चाहता हूँ कि हो जाय—'**तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै।**'—तब उसको अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है और वह मुझसे एक हो जाता है।

भगवान्ने भागवतमें फिर कहा कि देखो मेरी बातका ज्यादा ध्यान मत करो—'आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्' अर्थात् अपने गुण-दोषोंकी ओर मत देखो, तुम तो केवल '**धर्मान् संत्यज्य सर्वान् भजतु माम**'।—धर्मका अभिमान छोड़कर सर्वथा निरभिमान होकर मेरे सामने आजाओ। इतनेसे ही तुम देखोगे कि मेरी सेवा हो रही है।

देखो, भगवत्सेवामें बाधक अभिमान ही है। अभिमानी पुरुष किसीकी भी सेवा नहीं कर सकता। न प्रान्तकी सेवा कर सकता है, न राष्ट्रकी सेवा कर सकता है। न जातिकी सेवा कर सकता है और न मानवताकी सेवा कर सकता है। वह तो जो कुछ भी करेगा उसके द्वारा अपने अभिमानकी ही सेवा करेगा। इसलिए अभिमानसे छूटना अनिवार्य है। दुनियाके लोग यह चाहते हैं कि हम करेंगे तो सेवा, लेकिन करेंगे अपने अधिकारके अन्तर्गत। हमने अमुक संस्था स्थापित कर रखी है। हमारी वह संस्था बहुत बढ़िया है, लेकिन उसपर कण्ट्रोल हमारा ही रहेगा। इस धारणाके कारण बड़े-बड़े श्रद्धालु भी सेवाभ्रष्ट हो जाते हैं, अच्छी-अच्छी संस्थाएँ भी अन्तमें मार्गभ्रष्ट हो जाती हैं। अन्ततोगत्वा ऐसी संस्थाएं सार्वजनिक सेवासे विरत होकर व्यक्तिकी सेवा तक ही सीमित रह जाती हैं। तो भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी से फिर कहते हैं—

> **तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।**
> **प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥**
> **मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।**
> **याहि सर्वात्मभावेन मया स्याद्यकुतोभयः॥**

अर्थात् क्या प्रवृत्ति है और क्या निवृत्ति है, यह झगड़ा न कभी निपटा है, न कभी निपटेगा, इसलिए छोड़ो इसको। क्या विधि है और क्या निषेध है इसको पूर्णरूपसे किसने जाना है? किसने साक्षात्कार किया है इसका? इसलिए इसके विवादमें मत पड़ो। तुमने जितना सुना है, जाना है और जितना सुनना-जानना बाकी है, उसको भी छोड़ दो। तुम मेरी शरणमें आओ—'मामेकमेव शरणम्'।

बाबा, बात तो तुम्हारी ठीक है पर तुम हो कहाँ कि तुम्हारी शरणमें आयें?

जरा दिख तो जाओ। भगवान् बोले कि—'आत्मानं सर्वदेहिनाम्'—जितने भी देहधारी हैं उन सबके भीतर हूँ। दीया अलग है, तेल अलग है, बत्ती अलग है; परन्तु लौमें जो आग है, अग्नि है, वह एक है। दीयोंके जलानेका स्थान अलग हो, समय अलग हो, वे अलग-अलग दीखें; लेकिन सबके भीतर अग्नि एक है। **'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'**—प्रत्येक बल्बमें रोशनी अलग मालूम पड़ती है, लेकिन रोशनी एक है, बिजली एक है। यहाँतक कि प्रत्येक बल्बमें उसमें भी जो माटी, पानी, आग है, वह भी एक ही है। तो ये जो देहधारी हैं, मनुष्य हैं, जन-जन हैं, मन-मन हैं, कण-कण हैं उन सबके भीतर एक परमात्मा है। वही सबका आत्मा है, वह सबके भीतर है। इसलिए—'याहि सर्वात्मभावेन'—सबकी आत्माके रूपमें भगवान्‌को पहचानो। गीताके पन्द्रहवें अध्यायमें आया है—'स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत'।

भगवान्‌की सेवा कैसे होती है? सर्वभावसे होती है। भगवान्‌ने मछली बनकर, कछुआ बनकर, यहाँतक कि सूअर बनकर भी दिखा दिया कि मछली, कछुआ और सूअरसे भी कितनी सेवा होती है कि जलकी शुद्धि मछली बनकर करते हैं और सूअर बनकर पृथिवीकी गन्दगी साफ करते हैं। इसी तरह धीरता-शूरता प्रकट करनेके लिए भगवान् सिंह बन जाते हैं। देखो, भगवान्‌के विविध रूप।

लतामें भगवान् हैं, वृक्षमें भगवान् हैं, पीपलमें भगवान् हैं, तुलसीमें भगवान् हैं, धरतीमें भगवान् हैं, वेदमें भगवान् हैं, इसको कहते हैं स्थाली-पुलाक-न्याय। ये सब भगवान्‌की प्रकृति हैं, भगवान्‌का स्वभाव हैं। ऐसे भगवान्‌की शरणमें जानेका अर्थ है—सर्वत्र भगवद्भाव होना, सर्वात्मभाव होना, केवल भगवान्‌का ही दर्शन होना।

अब भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं कि तुम इस प्रकार मेरा दर्शन करके 'अकुतोभयः' हो जा—तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं होना चाहिए। गीतामें भी भगवान् अर्जुनसे यही कहते हैं कि तुमने गीता सुनी। तुम्हारे जीवनका शोक-मोह और भय नष्ट हुआ—'**कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजयः।**'

भगवान् यह नहीं कहते कि तुमने गीता सुन ली, अब तेरे मोहका नाश हो जायगा। इससे सिद्ध है कि गीता वायदेका सौदा नहीं है। आप जानते हैं कि पासमें माल-मत्ता कुछ न हो तो बाजारसे वायदेका सौदा चलता है। वायदेका सौदा माने—आगे ऐसा होगा, वैसा होगा। लेकिन यहाँ तो भगवान् कहते हैं कि —अर्जुन बोलो,

साफ-साफ बोलो कि तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया कि नहीं? और अर्जुन भी छाती ठोंककर बोलते हैं कि—हाँ, प्रभो! '**नष्टो मोहः**' —मेरा मोह नष्ट हो गया है। इतना ही नहीं '**स्मृतिर्लब्धा**'—मुझे तो स्मृतिकी प्राप्ति हो गयी और हमारे भी मनकी सारी उलझनें, सारी गाँठें, सारी ग्रन्थियाँ, सारी समस्याएँ सुलझ गयीं सबका समाधान हो गया—

'**स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः**'। छन्दोग्य० ७.२६.२

यह सब कैसे हुआ अर्जुन? ऐसे हुआ कि तुम मेरे अन्तःकरणमें मुस्कुरा रहे हो, तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो। तुम्हारी प्रसन्नतासे ही ऐसा हुआ है। अब मेरे मनमें कोई संशय नहीं है—'स्थितोऽमि गतसन्देहः।' तुमने बारम्बार कहा था कि—'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भारत' 'युद्धस्व विगतज्वरः'। 'मामनुस्मर युध्य च।' वह सफल हुआ। अब मैं इस जीवन-संघर्षके लिए, इस जीवन-युद्धके लिए तैयार हूँ। अब इस सृष्टिमें ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो मुझे पराजित कर सके। अब मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिए तैयार हूँ—'करिष्ये वचनं तव'। इसलिए सञ्जय कहते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

देखो, गीता 'धर्मक्षेत्र' के 'ध'से प्रारम्भ हुई और 'मम'के 'म'से समाप्त हुई। इस प्रकार धर्मसे, भक्ति-ज्ञानके समन्वयसे सम्पुटित है। यह गीताका धर्म्य संवाद है, धर्म्यामृत है, मनुष्यको अमर बनानेके लिए अमृत है। देवताओंके जीवनमें कोई अमृत था या नहीं हम नहीं जानते, लेकिन गीतामृत हमारे सामने है। आओ अभी पीओ और अमर हो जाओ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

❋
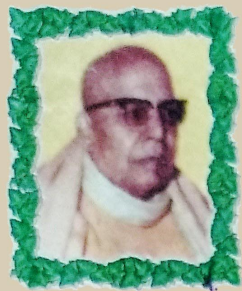
गीतामें
भक्ति-ज्ञान समन्वय

एक बार किसीने श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा-

-भक्ति बड़ी कि ज्ञान?

बाबा बोले - भक्ति बड़ी है।

पूछनेवाला वेदान्ती था। उसने कहा-

-महाराज! आपने तो भक्तिको तो बड़ी कर दिया, ज्ञान क्या उससे छोटा है?

बाबा बोले - बेटा! ज्ञानमें छोटे-बड़ेका भेद नहीं होता। भक्ति सबसे बड़ी है।

-भक्ति सबसे बड़ी है, हम मान लेते हैं, किन्तु भक्तिसे भी कुछ बड़ा होता होगा?

बाबा बोले - भगवान्! जिनकी भक्तिकी जाती है, वे भक्तिके आराध्य हैं, पूजनीय हैं, भजनीय हैं। इसलिए सबसे बड़ी भक्ति, और भक्तिसे बड़े भगवान्।

मनमें भक्ति रहती है और बुद्धिमें ज्ञान रहता है। यहाँ भक्ति और ज्ञानके समन्वयका तात्पर्य है बुद्धि और मनका व्यवहारमें समन्वय।

भक्तिके रूपमें 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' लीजिये और चाहे ज्ञानके रूपमें 'अमानित्वं अदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्'को लीजिये-दोनोमें सदाचार-सद्भावकी आवश्यकता होती है-सदाचार-सद्भाव बिना न भक्ति बढ़ेगी और न ज्ञान बढ़ेगा।